श्री बाबू निर्मल कुमार जैन
की ओर से भेंट

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ९ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. VIII. No II.

No-056845
Lo-42.13

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

DECEMBER, 1942.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे; प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ९ अगहन किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४२

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

१ मन्दिरों एवं मूर्त्तियों की उत्पत्ति—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ६५

२ जैनधर्म का महत्त्व—[श्रीयुत प्रो० देवराज, एम० ए०, डी० फिल० ... ७२

३ उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख—[श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ... ... ७६

४ केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री ८१

५ पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'—[श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे ... ८४

६ श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस० ... ... ९१

७ वैदिक एवं जैनधर्म में समानरूप से या कुछ हेरफेर से पाये जानेवाले कतिपय पद्य —[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ९६

८ तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक—[श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए० . ९७

९ विरुदावली—[अनु० श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ १०८

१० समीक्षा—(१) षड्खण्डागम—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री १२०

(२) कन्नड नाडिन कथेगलु—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण १२१

(३) चित्रसेनपद्मावतीचरित्रम्—[श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ १२२

११ जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा का संक्षिप्त वार्षिक विवरण १२४

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ९ | दिसम्बर, १९४२। अगहन, वीर नि० सं० २४६९ | किरण २

मन्दिरों एवं मूर्त्तियों की उत्पत्ति

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

डा० पी० के० आचार्य का मत है कि 'भारतवर्ष या अन्य किसी भी देश में मूर्त्ति-पूजा एवं मन्दिरों की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई थी। 'देवायतन' शब्द पूजा-स्थल में मूर्त्ति की आवश्यकता सूचित नहीं करता। पूर्व-वैदिक-काल के मूर्त्तिपूजकों को प्राकृतिक दृश्यों एवं वस्तुओं में ही परमेश्वर की सत्ता मिली थी। जनता बाद में परमेश्वर की कल्पना सर्वशक्तिशाली या सर्वव्यापी की तरह सहस्रलोचन या सहस्रपाद के रूप में करने लगी।' साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि 'यह भी सोच बैठना ठीक न होगा कि जब तक मूर्त्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, लोग पूजा नहीं करते थे।'*

मन्दिरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदासजी का मत है कि "संभवतः 'चैत्य' शब्द चिता से ही उत्पन्न हुआ है। महापुरुषों की चिताओं पर उनकी यादगार में जो वृक्ष लगाये जाते थे, जो पाषाणखण्ड रक्खे जाते थे, मृत शरीर के अवशेष रखकर उनपर जो चबूतरे बनाये जाते थे, मढियाँ बनाई जाती थीं, उन सबको 'चैत्य' कहते थे। धीरे-धीरे मृत महापुरुषों की मूर्त्तियाँ बनाई जाने लगीं और वे भी 'चैत्य' कहलाईं और फिर उनकी रक्षा के लिये मन्दिर बनाये गये, जो 'चैत्यालय' कहलाने लगे।"†

परन्तु डा० पी० के० आचार्य का कहना है कि चैत्य या कब्र से मन्दिरों का कोई सम्बन्ध नहीं था। वे मन्दिरों की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि "कल्पसूत्र के कुछ अंश को 'शुल्मसूत्र'

*—'प्राचीन भारत' वर्ष १, सं० ८।

†—'पर्युषण पर्वनां व्याख्यानो' पृष्ठ ३९।

कहते हैं, जिसमें वेदी बनाने की रीति और उनकी लम्बाई आदि दी हुई है। इनमें 'अग्नि' या ईंटों से बनी हुई बड़ी-बड़ी वेदियों के बनाने की रीति का वर्णन है। ये वेदी सोमयज्ञ की थीं जिनका निर्माण वैज्ञानिक तौर पर हुआ था। सम्भवतः यहीं से मन्दिर-निर्माण का सूत्रपात होता है।"* रायबहादुर, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा कहते हैं कि "मूर्त्तिपूजा कब से प्रचलित हुई, यह नहीं कहा जा सकता। सबसे प्रथम ई० पू० २०० के नगरी के शिलालेख में संकर्षण और वासुदेव की मूर्त्तिपूजा के लिए मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। यह मूर्त्तिपूजा का सबसे प्राचीन लिखित उदाहरण है। इससे ज्ञात होता है कि यह प्रथा उससे बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी।" ['मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'] बल्कि इतिहासमहोदधि स्व० काशीप्रसाद जायसवाल के कथनानुसार आज तक की उपलब्ध देवमूर्त्तियों में सबसे प्राचीन मूर्त्तियाँ जैनियों की हैं।†

किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि जैन मूर्त्तियाँ मौर्यकाल अर्थात् ई० पू० तीसरी शताब्दी तक की उपलब्ध होने पर भी प्रतिष्ठा-विषयक साहित्य ई० सन् ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं मिलता। पता नहीं लगता कि इसके पहले मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा किस विधि और किस ढंग से होती थी।

श्रीयुत स्व० पं० उदयलालजी काशलीवाल ने 'जैनहितैषी' भाग १२, अंक १ में प्रकाशित अपने एक लेख में इस सम्बन्ध में यों लिखा था—"हमारा विश्वास इस बात को इन्कार नहीं करता कि अप्रतिष्ठित प्रतिमाएँ भी शान्ति प्राप्त करने की साधिका हैं। हमें प्राप्त करना है वीतरागता—शान्ति और यह जैसी प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के ध्यानादि से हो सकती है वैसी ही अप्रतिष्ठित प्रतिमाओं से भी। इस सम्बन्ध में उनके द्वारा उपस्थित किये गये हेतुओं में प्रधान हेतु ये हैं :

"साहित्य की दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो हमें यह निःसंकोच कह देना पड़ेगा कि इस प्रतिष्ठा के सम्बन्ध का इस समय जितना साहित्य उपलब्ध है, वह सब इतना पुराना नहीं जिससे हम विश्वास कर सकें कि प्रतिष्ठाविधि बहुत पुरानी है। इस समय आशाधर, नेमिचन्द्र, अकलङ्क (दूसरे), इन्द्रनन्दि, एकसन्धि आदि जितने विद्वानों और मुनियों के प्रतिष्ठापाठ मिलते हैं वे सब विक्रम की ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दि के बाद के हैं। हमें यह देखकर बड़ा विनोद होता है कि अब भी हमारे यहाँ विक्रम की दूसरी, तीसरी शताब्दि के बने ग्रन्थ जब मिलते हैं तब प्रतिष्ठा सरीखे एक आवश्यक विषय के ग्रन्थ उस समय के बने क्यों प्राप्त नहीं ? इसका कोई कारण होना चाहिये।"

*—'प्राचीन भारत', वर्ष १, सं० ८।

†—'जैन एन्टीक्वेरी' भाग ३, अंक १।

"विक्रम की समकालीन या उसके सौ, दो-सौ वर्ष बाद की प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ अब तक देखने में नहीं आई हैं।"

उदयलालजी के इस विचार पर 'जैनहितैषी' के सुयोग्य सम्पादक पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया था—"इस लेख पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। इसके लिये बड़े परिश्रम की और छानबीन करने की ज़रूरत है। मथुरा की जैनप्रतिमायें सबसे अधिक पुरानी हैं। वे लगभग १८०० वर्ष पहले की हैं। उनपर जो लेख हैं, उनमें प्रायः यह लिखा हुआ है कि अमुक के उपदेश से अमुक ने प्रतिमा बनवाई या स्थापित कराई। यह किसी भी लेख से स्पष्ट नहीं होता कि उनकी प्रतिष्ठा करवाई गई। ... . उपलब्ध प्रतिष्ठापाठ ग्यारहवीं शताब्दि के पहले के नहीं हैं। परन्तु इनका बारीकी से अध्ययन करने से मालूम हो सकता है कि ये किन ग्रन्थों के आधार से बने हैं और इनके पहले प्रतिष्ठायें किस विधि से होती थीं। इस विषय का निर्णय करनेवालों को श्वेताम्बर सम्प्रदाय के और वैदिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापाठों का भी तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करना चाहिए। आश्चर्य नहीं जो बौद्ध-सम्प्रदाय के भी प्रतिष्ठापाठ रहे हों और शायद अब भी मिलते हों। प्रतिष्ठापाठ अधिक पुराने नहीं मिलते हैं, केवल इसी कारण यह समझ लेना कि ग्यारहवीं शताब्दि के पहले प्रतिष्ठाविधि नहीं थी, या प्रतिष्ठायें नहीं होती थीं, निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। हाँ, यह सम्भव है कि इन प्रतिष्ठापाठों के पहले जो प्रतिष्ठायें होती होंगी, वे इतने आडम्बर से न होती होंगी और विधि भी इतनी जटिल न होगी।"

अस्तु अब पाठकों का ध्यान प्रस्तुत विषय पर आकर्षित करता हूँ। पो० के० आचाय का यह भी कहना है कि पूर्व में चिति या वेदी 'चतुरश्रश्येनचित', 'प्रौगचित', 'रथचक्रचित', 'द्रोण-चित', 'परिचय्यचित', 'समुह्यचित' एवं 'कूर्मचित' आदि कई तरह की बनाई जाती थी और उनका सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तरीय संहिता (खं० ४, ११) में मिलता है। एवं उसीके आधार पर बौधायन और आपस्तम्ब में विविध चिति (वेदियों) के आकार का वर्णन दिया हुआ है। चितियों का आकार हिन्दू, जैन एवं बौद्ध मन्दिरों की वेदी की तरह था जो मस्जिद और गिरजों में भी पाये जाते हैं। यही नहीं उनसे हिन्दू, जैन, एवं बौद्ध मन्दिरों के शिखर, गिरजों के ऊपरी भाग और मस्जिदों के गुम्बजों की कल्पना की जा सकती है। धीरे धीरे मन्दिर ऊँचाई और आकृति में बढ़ते गये। वेदियों के सामने क्रमशः 'भोगमण्डप', 'नृत्यमण्डप' आदि अन्यान्य मण्डपों की कल्पना भी की जाने लगी।[1] ऊपर की पंक्तियों का यही सार है कि विविध चिति-(वेदी)यों के ही क्रमशः भिन्न-भिन्न आकार और प्रकार वाले मन्दिरों की

१ 'प्राचीन भारत', वर्ष १, सं० ८।

उत्पत्ति हुई[1] और वे धीरे-धीरे अनेक मञ्जिल एवं गोपुरवाले विशाल तथा गगनचुम्बी बनाये जाने लगे। पीछे मन्दिर सजाये भी जाने लगे। इनमें पांच आंगन होते थे। भीतरी आंगन 'अन्तरमण्डल' कहलाता था। उसके बाहर क्रमशः 'अन्तरनिहार', 'मध्यमहारा' 'प्राकार' और महामर्यादा होते थे, जिनमें क्रमशः 'द्वारशोभा', 'द्वारशाला', द्वारप्रासाद', 'द्वारहर्म्य' और 'महागोपुर'[2] रहता था। छठवें और सातवें आंगन में मन्दिर की रक्षा के लिये सैनिक रहते थे।

हिन्दू शिल्पशास्त्र 'मानसार' में शान्तिक, पौष्टिक, जयद आदि मन्दिरों के कई नाम मिलते हैं। प्रत्येक की लम्बाई-चौड़ाई आदि भिन्न-भिन्न बतलाई गई है। मन्दिरों की छत, चपटी, बन्द या गोलाकार तीन प्रकार की होती है। सर्वप्रथम चपटी (गुफाओं के आकार पर) बाद बन्द और अन्त में गोलाकार छतों की सृष्टि हुई। गोलाकार छत, शिखर, शिखा, शिखान्त और शिखामणि इस प्रकार चार भागों में विभक्त है। हिन्दू, जैन, एवं बौद्ध मन्दिरों के शिखर की बनावट में कोई भेद नहीं मिलता है। हाँ, ऊँचाई में भेद अवश्य मिलता है। इमारत नागर (उत्तरी), वेसर (पूर्वी) और द्राविड यों तीन प्रकार की होती है[3]. इन सबों का विशद विवरण डा० पी० के० आचार्य की 'Indian Architecture According to Manasara-Shilpashastra.' नामक पुस्तक में दिया गया है।

दक्षिण भारत के मन्दिर द्राविड एवं चालुक्य भेद से दो भागों में विभक्त हैं। कुछ विद्वान् चालुक्य शैली का होयिसल नाम रखना अधिक समुचित समझते हैं। द्राविड़ शैली के मन्दिरों में प्रायः पाँच भाग होते हैं—विमान, मुखमण्टप (मण्डप), गोपुर, हजार और द्वार-मण्टप। इसी प्रकार चालुक्य या होयिसल शैली के मन्दिरों में भी प्रायः पाँच भाग होते हैं—विमान, नवरङ्ग, मुखमण्टप, द्वारमण्टप एवं सभामण्टप। फिर भी इनकी रचनाओं में वैविध्य अवश्य है[4]।

---

१ कोई कोई चित्त से भी 'चैत्य' की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु शब्दशास्त्र की दृष्टि से उनका यह मत सदोष है।

२ 'मयशास्त्रम्' में गोपुर एवं प्राकार आदि के सम्बन्ध में 'गोपुरप्राकारादिनिर्णयम्' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय ही है। देखें—पी० एन० बोस की 'Principles of Indian Shilpashastra'. इसी प्रकार 'काश्यपशिल्प' में भी इन सबों का विशद् वर्णन मिलता है।

३—'नागरं द्राविडं चैव वेसरं च त्रिधा मतम्।
कण्ठादारभ्य वृत्तं यद्वेसरमिति स्मृतम्॥
ग्रीवमारभ्य चाष्टाश्रं विमानं द्राविडाख्यकम्।
सर्वं वै चतुरश्रं यत्प्रासादं नागरंत्विदम्॥'

(—मानसार)

४ विशेष विवरण के लिये 'मैसूर देशद वास्तु शिल्प' प्रथम भाग का प्रथम अध्याय देखें।

श्रवणबेल्गोल का चावुण्डरायबस्ति द्राविडशैली एवं मूडुगेरे तालुक के अंगडि में वर्तमान मल्लिनाथबस्ति चालुक्य या होयिसल शैली की जैनकला के निदर्शन हैं।[1]

ठक्कुर के 'वास्तुसार-प्रकरण' में जैन प्रासाद[2] या मन्दिर के नाम और शिखर पच्चीस प्रकार के बताये गये हैं। इनका सविस्तर वर्णन 'प्रासादमण्डन', 'दीपार्णव' आदि शिल्प ग्रन्थों में सुन्दर ढंग से मिलता है। उक्त 'वास्तुसार-प्रकरण' में लिखा है कि शिखरों के मान से प्रासाद ९६७० प्रकार के बनते हैं। इसमें 'प्रासाद का स्वरूप', 'प्रासाद का अंग', 'प्रासाद का मान', प्रासाद के उदय का प्रमाण', शिखरों की ऊँचाई', 'शुकनाश का मान', 'कनक-पुरुष का मान' आदि कई प्रकरण दिये गये हैं[3]।

मन्दिरों के बारे में रायबहादुर, महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा यों कहते हैं:—

'ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के आसपास से बारहवीं शताब्दी तक के सैकड़ों जैनों और वेदधर्मावलम्बियों अर्थात् ब्राह्मणों के मन्दिर अब तक किसी न किसी दशा में विद्यमान हैं। देश-भेद के अनुसार इन मन्दिरों की शैली में भी अन्तर है। कृष्णा नदी के उत्तर से लेकर सारे उत्तरीय भारत के मन्दिर आर्य-शैली के हैं और उक्त नदी के दक्षिण के द्राविड़ शैली के। जैनों और ब्राह्मणों के मन्दिरों की रचना में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना ही है कि जैन मन्दिरों के स्तम्भों छतों आदि में बहुधा जैनों से सम्बन्ध रखनेवाली मूर्त्तियाँ तथा कथाएँ खुदी हुई पाई जाती हैं और ब्राह्मणों के मन्दिरों में उनके धर्म-सम्बन्धी। बहुधा जैनों के मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटी-छोटी देव-कुलिकाएँ बनी रहती हैं जिनमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। ब्राह्मणों के मुख्य मन्दिरों के साथ कहीं कहीं कोनों में चार और छोटे छोटे मन्दिर होते हैं। ऐसे मन्दिरों को पंचायतन मन्दिर कहते हैं। ब्राह्मणों के मन्दिरों में विशेषकर गर्भगृह (निजमन्दिर) रहता है, जहाँ मूर्त्ति स्थापित होती है और उसके आगे मण्डप। जैन मन्दिरों में कहीं कहीं दो मण्डप और एक विस्तृत वेदी भी होती है। दोनों शैलियों के मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर और उसके

---

१ उपलब्ध जैन मन्दिर एवं मूर्त्तियों की विशेष जानकारी के लिये 'विश्ववाणी' के 'जैन संस्कृति अंक' में प्रकाशित 'जैन मन्दिर एवं मूर्तिकला' शीर्षक मेरा लेख पढ़ें।

२ भोजदेवप्रणीत 'समरङ्गणसूत्रधार' में भी प्रासाद, वेदी आदि का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

३ एक स्थान में चैत्यालय का उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

'सिंहो येन जिनेश्वरस्य सदने निर्मापितो तन्मुखे।
कुर्यात्कीर्त्तिमुखं त्रिशूलसहितं घण्टादिभिर्भूषितम्॥
तत्पार्श्वे मदनस्य हस्तयमलं पञ्चाङ्गुलीसंयुतम्।
केतुस्वर्णघटोज्ज्वलञ्च शिखरं केत्वाय निर्मापितम्॥'

सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बड़ा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश रहता है, और वही ध्वजदण्ड भी होता है।[१]

यहाँ पर एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि 'मयशास्त्र' 'काश्यपशिल्प' आदि प्राचीन हिन्दू शिल्पशास्त्र के ग्रंथों में जैन एवं बौद्ध मन्दिरों तथा मूर्त्तियों का उल्लेख बहुत कम पाया जाता है। 'मानसार' आदि दो एक ग्रंथों में जो उल्लेख मिलता है, वह भी बहुत ही अनुदारपूर्ण है। मानसार लिखते हैं कि जैन एवं बौद्ध मन्दिर नगर तथा ग्राम से बाहर बनने चाहिये।[२] परन्तु इतिहास में कहीं भी इनकी इस बात की पुष्टि नहीं होती है। इसमें कोई शक नहीं है कि मानसार वैष्णव पक्षपाती थे। इसीलिये उन्हें स्पष्ट लिखना पड़ा कि जिस नगरी के बीच में विष्णु-मन्दिर होता है, वह राजधानी कहलाती है।[३]

जैन मूर्त्तियों के सम्बन्ध में दो-एक बात और कहनी है। सन् १९३७ में पटने में प्राप्त मौर्यकालीन जैन मूर्त्तियों का उल्लेख ऊपर कर ही चुका हूँ। इस समय सिंधु की उपत्यका का पुरातत्त्व सर्वप्राचीन समझा जाता है और उससे विद्वज्जन जिनप्रतिमा का भी सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[४] इससे यह स्पष्ट है कि आज से लगभग छः हजार वर्ष पहले भी जिन-मूर्त्तियाँ मौजूद थीं। बाद मथुरा और खण्डगिरि-उदयगिरि का पुरातत्त्व भी जिनमूर्त्ति के प्राचीन अस्तित्व का द्योतक है। ई० पहली शताब्दी में मथुरा में वह प्राचीन स्तूप मौजूद था, जो उस समय 'देवनिर्मित' समझा जाता था और जिसे डा० बुल्हर तथा सर विन्सेन्ट स्मिथ ने भगवान पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईस्वी पूर्व आठवीं शताब्दी का बताया था।[५] जैनस्तूप पर मूर्त्तियाँ बनी होती है, यह बात जैनशास्त्रों और मथुरा के स्तूपावशेषों से स्पष्ट है।

'सूत्रों में अर्हंतों के स्तूपों की चर्चा है, जो सम्भवतः जैन अर्हंतों के, बौद्ध धर्म के पहले से हुआ करते थे। बौद्ध स्तूपों में इनसे कोई अन्तर नहीं होता था।'

'जैसे मन्दिर का नमूना उसने ब्राह्मण सम्प्रदाय से लिया, वैसे ही बुद्ध की प्रतिमा के नमूने जैनों से ले लिए।'[६]

१—'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'—पृष्ठ १७५-७६।

२—'दुर्गां गणपतिं चैव, बौद्धं जैनं गतालयम्।
अन्येषां षण्मुखादीनां स्थापयेन्नगराद्बहिः॥' (९, ४०५-६)

३—तत्रागते नगर्यन्तं यदि विष्णवालयं भवेत्।
राजधानीति तन्नाम विद्वद्भिर्वर्ण्यते सदा॥ (१०, ४७)

४—Survival of the Prehistoric Civilisation of the Indus Valley, pp. 25-83 and Modern Review, August, 1932.

५—Jaina Stupa and other antiquities of Mathur. P. 13.

६—'भारतीय मूर्ति-कला' पृष्ठ ४२ और ६५।

'उपलब्ध जैनमूर्त्तियों को 'हम तीन भागों में विभक्त करना उचित समझते हैं। (१) उत्तर भारतीय (२) दक्षिण भारतीय और (३) पूर्व भारतीय। जैन सम्राट् ऐल खारवेल के समय अथवा उनके भी पहले से जैनधर्म के केन्द्र इन्हीं तीन प्रदेशों में थे। मथुरा, पटना, उज्जैन और काँचीपुर जैन धर्म के प्राचीन केन्द्र हैं। इन्हीं केन्द्रस्थानों के अधीन उनके आसपास श्रावकों का होना स्वाभाविक है और उनपर वहाँ के देश और लोगों का प्रभाव पड़ना प्राकृत संगत है। उत्तर भारतीय प्रतिमाओं में हम संयुक्तप्रान्त से गुजरात तक और उधर पञ्जाब तक की प्रतिमाओं को लेते हैं। ये प्रतिमाएँ प्रायः एक समान देखने को मिलेंगी। एक समान से हमारा मतलब मुखाकृति, शरीरगठन आदि से है। वैसे स्वरूप में जिन-प्रतिमा एक-सी ही मिलेगी। पञ्जाब में तक्षशिला आदि से प्राप्त जिन-प्रतिमाओं पर गांधार-शिल्प का प्रभाव पड़ा कहा जा सकता है। किन्तु उत्तर भारत की प्राचीन मूर्त्तियाँ मथुरा की बनी हुई कही जा सकती हैं और वे वर्तमान प्रतिमाओं से शरीर-आकृति आदि में विलक्षण हैं। दक्षिण भारत की जिन-मूर्त्तियाँ भी उत्तर भारत की मूर्त्तियों से शिल्प नैपुण्य में भिन्नता रखती हैं। उनपर द्राविड़ लोगों की संस्कृति का प्रभाव पड़ा है और वे उन्हीं-की शरीर-आकृति को प्रकट करती हैं। इसी तरह पूर्व भारत अर्थात् बंगाल, बिहार और उड़ीसा की जिन-मूर्त्तियाँ वहाँ के क्षेत्र, मनुष्य और शिल्प का प्रभाव प्रकट करती हैं। इन देशों की जिन-मूर्त्तियों पर एक दृष्टि डालने से यह मूर्त्ति गढ़ने का भेद स्पष्ट हो जाता है।'*

वसुनन्दी, एकसन्धि, आशाधर आदि के प्रतिष्ठाग्रन्थ एवं विवेकविलासादि अन्यान्य रचनाओं में भी जैन-मन्दिर तथा मूर्त्ति सम्बन्धी कई ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं। अस्तु, अन्त में मैं इतना और खुलासा कर देना चाहता हूँ कि पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वान् मूर्त्तिपूजन का आविर्भाव किस काल में हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से अभी तक कुछ भी नहीं कह सके हैं। हाँ, पटना की बस्ती अगम कुआँ से सन् १८१२ में उपलब्ध शैशुनाक की प्रतिमायें सर्वप्राचीन मानी गई हैं।† इस सम्बन्ध में अधिक छानबीन की जरूरत है। अन्वेषक विद्वानों का ध्यान इधर आकर्षित करने के लिये ही उपलब्ध सामग्रियों को मैंने विद्वानों के सामने रख दिया है। आशा है कि अधिकारी विद्वान् इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने का कष्ट उठावेंगे।

---

*—'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, किरण १, पृष्ठ १४—१५।

†—'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' जिल्द १, पृ० ५०१।

जैनधर्म का महत्त्व

[ले० श्रीयुत प्रो० देवराज, एम० ए०, डी फिल०]

जैनधर्म की महत्ता ठीक-ठीक आँकने के लिए हमें उस ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से परिचित होना होगा जिसमें उसका उदय हुआ था। स्वयम् जैन लोग सम्भवतः हमारी इस चेष्टा को अनुचित समझेंगे, क्योंकि उनके विश्वासानुसार उनका मत या धर्म अत्यन्त प्राचीन है—उनके आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव मंत्रकर्त्ता वैदिक ऋषियों के समकालीन कहे जाते हैं। किन्तु जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों के इतने प्राचीन होने का कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है।* वास्तव में किसी सिद्धान्त या सम्प्रदाय का मूल्य उसकी प्राचीनता पर निर्भर नहीं है। सिद्धान्त या मतविशेष का मूल्य निर्धारित करने के दो माप-दण्ड हैं, एक ऐतिहासिक और दूसरा तर्क-सम्बन्धी अथवा अनुभवात्मक; पहले मापदण्ड से हम यह देखते हैं कि कोई मत या सिद्धान्त अपने उत्पत्ति काल में प्रगतिशील शक्ति के रूप में अवतीर्ण हुआ था अथवा प्रगति विरोधी रूप में; दूसरे मापदण्ड से हम इस बात का निर्णय करते हैं कि मानवजाति के सार्वकालिक अनुभव और तर्क की कसौटी पर उसका मूल्य क्या है। प्रस्तुत लेख में हम जैन-धर्म के सिद्धान्तों का मूल्यांकन पहले दृष्टिकोण से करेंगे।

जलधारा की भाँति किसी जाति या देश की विचार-धारा की स्वच्छता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके कलेवर में समय-समय पर नवीन तत्त्वों का समावेश होता रहे। जिस प्रकार बँधे हुए जलाशय का पानी दुर्गन्ध देने लगता है, उसी प्रकार बँधा हुआ विचार-प्रवाह जातीय मस्तिष्क के लिए अस्वास्थ्यकर हो उठता है। मनुष्य का अनुभव बढ़ता रहता है; इसलिए उसकी व्याख्या करनेवाले सिद्धान्तों में भी परिवर्तन अनिवार्य है। यही कारण है कि डार्विन के विकासवाद के पहले प्रतिपादित किए गए सृष्टि आदि से सम्बद्ध सिद्धान्त आधुनिक विद्वानों को सहसा ग्राह्य नहीं जान पड़ते। वैदिक काल के आर्यों का धर्म सरल भक्तिमय था। वे मुख्यतः बाह्यदर्शी थे; विभिन्न प्राकृतिक घटनाओं के पीछे उन्हें अधिष्ठाता देवताओं की शक्तियाँ दिखाई देती थीं, जिन्हें वे पूज्य और प्रशंसनीय समझते थे। ऋग्वेद की ऋचाओं में आर्यों की इस विश्वास-भावना की अकृत्रिम अभिव्यक्ति है। किन्तु धीरे-धीरे वैदिक धर्म की यह सरलता और भाव-प्रवणता नष्ट हो गई। पुरोहितों ने, जिनकी अब एक अलग जाति बन गई थी, अपने स्वार्थसाधन के लिए विविध यज्ञों और दक्षिणाओं की सृष्टि की। जटिल यज्ञ-विधान प्रतिपादित किए गए, जिनके अनुष्ठान के लिए ब्राह्मण

* इस विषय में प्रमाण अपेक्षणीय है। —सं०

पुरोहितों की सहायता लेना अनिवार्य था। आर्य लोग अब तक भक्ति-भावना से विह्वल होकर देवताओं की स्तुतियाँ गाते थे; अब भक्ति का स्थान अनुष्ठानों ने ले लिया। पुरोहितों ने उन्हें यह विश्वास दिलाया कि वास्तविक फल देनेवाले यज्ञानुष्ठान हैं, न कि देवगण: विधिपूर्वक अनुष्ठानों को पूरा करने से यजमान अभीष्ट फल पा सकता है। इस प्रकार अनुष्ठानों को गौरव देने का एक परिणाम तो यह हुआ कि देवताओं की महत्ता कम हो गई, और दूसरा यह कि लोग अनुष्ठानों की जटिल विधियों को पूरा करने में ही मानव धर्म और मानव-कर्तव्यों की इतिश्री समझने लगे।

ऐसी अवस्था में वैदिक धर्म का विरोध होना अनिवार्य था। विरोध का मुख्य कारण ब्राह्मण-युग के कर्मकाण्ड को बहिरंगता थी। यह विरोध या प्रतिक्रिया दार्शनिक और नैतिक-दोनों दिशाओं में, प्रसारित हुई। ऐसा मालूम पड़ता है कि यज्ञों की प्रधानता ने वैदिक देवताओं की महत्ता को सदैव के लिए क्षत कर दिया। उपनिषदों में हम ब्राह्मण-युग के विरुद्ध दार्शनिक (Metaphysical) प्रतिक्रिया पाते हैं। उपनिषदों के विचारक हमारा ध्यान अनेक देवताओं से हटाकर एक आत्मा की ओर ले जाते हैं। नैतिक क्षेत्र में उपनिषद् के ऋषि हमें कर्मकाण्ड के विरुद्ध आवाज उठाते हुए दिखाई देते हैं।

किन्तु उपनिषदों द्वारा किया गया ब्राह्मण-युग का विरोध घरेलू सा था, वह सम्पूर्ण और सार्वभौम नहीं था। उपनिषदों में कर्मकाण्ड की निन्दा सिर्फ उनके दृष्टिकोण से की गई है, जो मोक्ष चाहते हैं। तत्त्व-दर्शन (Ontology) में भी उपनिषदों ने खुले शब्दों में बहुदेव-वाद का विरोध नहीं किया। आधुनिक राजनीति की भाषा में कहें, तो उपनिषदों का स्वर सुधारवादी था, क्रान्तिवादी नहीं। किन्तु इस समय जनता कर्मकाण्ड की यान्त्रिकता एवं कट्टरता तथा ऊँच-नीच के भेद भाव से इतनी खिन्न हो गई थी कि वह नैतिक वातावरण में आमूल परिवर्तन चाहती थी। परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन भारत में ऐसे अनेक विचारक और प्रचारक उठ खड़े हुए, जो वैदिक दार्शनिक और नैतिक, विचार-परम्परा के प्रतिकूल थे।

इनमें से अधिकांश विचारकों का दृष्टिकोण ध्वंस-मूलक था, वे किसी-न-किसी तरह प्राचीन पक्षपातों को नष्ट करना चाहते थे। पुराण कश्यप, अजितकेश कम्बली, पकुद काच्छायन, मक्खली गोसाल आदि इसी कोटि के विचारक थे। किन्तु कुछ क्रान्तिकारी विचारकों का दृष्टिकोण भावात्मक अथवा सर्जनात्मक (Constructive) भी था। वे लोग ब्राह्मण-युग को हटाकर एक नवीन युग की स्थापना करना चाहते थे। उनका उद्देश्य समाज के नैतिक आधारों का नवनिर्माण करना था, उन्हें नष्ट करना नहीं। जैनधर्म के प्रचारक भगवान् महावीर और बौद्धधर्म के स्थापक भगवान् बुद्ध इसी प्रकार के विचारक थे।

जैनधर्म के उत्पत्तिकाल के विषय में भले ही मतभेद हो, पर यह निर्विवाद है कि उसका उदय बौद्धधर्म से पहले हुआ। भारत के दार्शनिक इतिहास के दृष्टिकोण से यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। जैन सिद्धान्तों का महत्त्व-निर्णय करते समय इस कालक्रम को ध्यान में रखना आवश्यक है। जहाँ तक हमें मालूम है, जैनधर्म पहला सम्प्रदाय था, जिसने वैदिक कर्मकाण्ड का निश्चित स्वर में विरोध किया और उसके बदले मौलिक नैतिक सिद्धान्तों को रखने की चेष्टा की। जैनधर्म के कोमलहृदय प्रवर्त्तकों को वैदिक कर्मकाण्ड की हिंसापरता खली और उन्होंने विश्व के नैतिक इतिहास में पहली बार 'अहिंसा परमो धर्मः' का उपदेश दिया।

जैनधर्म की नैतिक शिक्षा का एक दूसरा पहलू भी था। उसने अगणित देवी-देवताओं का अवलम्बन छोड़कर आत्मनिर्भरता की शिक्षा दी। आत्मकल्याण के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन ही नहीं, सम्यक्चारित्र भी आवश्यक है। ज्ञान के समान ही शुद्ध चारित्र की प्राप्ति के लिए मनुष्य को देवी-देवताओं अथवा अन्य रहस्यमयी सत्ताओं की आवश्यकता नहीं है। गीता कहती है,—'उद्धरेदात्मनात्मानम्', अर्थात् मनुष्य स्वयम् अपना उद्धार करे; जैनधर्म की भी यही शिक्षा है। भेद यही है कि गीता की भाँति जैनधर्म, कम से कम अपने मूलरूप में, अनेक देवी-देवताओं और ईश्वर में विश्वास नहीं सिखाता, जिसके फल-स्वरूप उसकी आत्मावलम्बन की शिक्षा को दार्शनिक आधार मिल जाता है।

कर्मक्षेत्र से भी पहले यह शिक्षा ज्ञान-क्षेत्र में शुरू हुई थी। सम्यग्ज्ञान के लिए मनुष्य को श्रुति पर निर्भर नहीं रहना होगा, उसे स्वयं चिन्तन करना पड़ेगा। भारत के मस्तिष्क को ग्रन्थ-विशेष के बन्धन से छुड़ाने की यह चेष्टा जैनधर्म तथा अन्य 'प्रगतिगामी' विचारकों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था। इतने प्राचीनकाल से ही यदि भारत में इस प्रकार श्रुति का विरोध न होता, तो मध्यकालीन योरुप के समान यहाँ के दार्शनिक भी स्वतंत्र विचारक न बनते और श्रुति-सम्मत सिद्धान्तों के मण्डनमात्र में अपनी तर्कशक्ति को थका डालते। यह जैनधर्म तथा अन्य श्रुति-विरोधी सम्प्रदायों का ही प्रभाव है कि भारतवर्ष में एक नहीं अनेक 'आस्तिक' (श्रुति-सम्मत) दर्शनों का उदय हुआ।

तत्त्व-दर्शन (Ontology) के क्षेत्र में जैनधर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अनीश्वरवाद था। बाद में बौद्धधर्म ने भी अनीश्वरवाद का प्रचार किया, किन्तु उसका अनीश्वरवाद नैरात्म्यवाद का अंश था। यदि हम जैनधर्म की प्राचीनता को ध्यान में रक्खें, तो हमें इस सिद्धान्त के महत्त्व को समझने में कठिनाई नहीं होगी। प्रायः सभी प्राचीन धर्म सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में विश्वास सिखाते हैं। प्राकृतिक घटनाओं के अप्राकृतिक कारण में विश्वास प्रारंभिक धार्मिक मस्तिष्क का प्रधान लक्षण है। यह आश्चर्य की बात है कि इतने प्राचीनकाल में जैनधर्म अपनेको इस पक्षपात से मुक्त कर सका। नवीन विज्ञान के अनुसार

प्रकृति-जगत् एक स्वतंत्र समष्टि (System) है, जिसकी प्रत्येक घटना अटूट नियमों के अनुसार होती है। इन नियमों में कोई बाहरी (जड़ेतर) शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती। ईश्वर को स्रष्टा मानने का अर्थ प्रकृति की अखण्डता और स्वतंत्रता (Autonomy) में अविश्वास करना है। प्रकृति-संबंधी इस रहस्य को जैन-धर्म ने मानव-चिन्तन की इतनी आरंभिक अवस्था में समझ लिया, यह श्लाघ्य है।

भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य है कि जैनधर्म-द्वारा जड़ जगत् की इस प्रकार निरपेक्षता घोषित किये जाने पर भी यहाँ वैज्ञानिक अन्वेषण का उदय नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यही मालूम पड़ता है कि यहाँ के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्क मोक्ष की खोज में लगे रहे; उनमें प्राकृतिक रहस्यों का पता लगाकर जड़ शक्तियों पर शासन करने की आकाङ्क्षा न थी। हिन्दू-दर्शन की भाँति जैनधर्म ने भी मोक्ष में विश्वास प्रतिपादित किया, और चूंकि मोक्ष का अर्थ शरीर अथवा जड़ जगत् के सम्पर्क से छूटना था, इसलिए इन विचारकों का जड़-सम्बन्धी अन्वेषणों में जी लगना कठिन था। यही कारण है कि जहाँ जैनधर्म के श्रुति-विरोध ने भारत की तर्क-प्रगति को प्रभावित किया, वहाँ उसके अनीश्वरवाद ने भारतीय दर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला। इसके विपरीत जैनदर्शन के घोर द्वैतवाद ने आत्मा और अनात्मा के बीच की खाई को अधिक चौड़े और गहरे रूप में प्रदर्शित करके भारतीय मस्तिष्क को प्रकृति से तटस्थ रखने में सहायता दी।

उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

(शेषांश)

इस लेख से स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट सम्राट् मूलतः रट्टवंशोद्भव थे; क्योंकि सम्राट् कृष्ण को रट्टवंशी और उन्हींके वंश में रट्टराज कार्तवीर्य को हुआ लिखा है। कार्तवीर्य स्वयं जैनधर्मानुयायी थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। लक्ष्मीदेव उन्हींके पुत्र थे। उपरान्त वह राजा हुए थे। चन्द्रिकादेवी उनकी पट्टरानी बड़ी धर्मात्मा थीं। एक दफा उनको घटसर्प नामक असाध्य रोग हो गया। वैद्यों ने उनके अच्छा होने की आशा छोड़ दी। वह एकान्तवास में जा रमीं और जिनेन्द्र महावीर का मंदिर बनवाकर उसमें जिनपूजा एवं व्रतोपवास करने में निरत हुईं। उनकी भक्ति सफल हुई—वह अच्छी हो गईं। यह वर्णन अगले लेख नं० २३ में अंकित है। उपर्युक्त लेख में मुरियर महाप्रभु अम्मगौड के पार्श्वजिनालय बनवाने का उल्लेख है। 'मुरियर महाप्रभु' बिरुद संभवतः मोरिय क्षत्रियत्व का द्योतक है। तामिल साहित्य में 'मुरियर' शब्द 'मोरिय' (मौर्य ?) लोगोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। 'प्रभु' या 'महाप्रभु' शब्द महाराष्ट्रीय कायस्थों के लिये प्रयुक्त होता है। जो हो, यह स्पष्ट है कि अम्मगौड एक सरदार था और जिनेन्द्र का भक्त था। उसकी पत्नी जिनभक्ति में किसीसे कम नहीं थी। नं० २३ (४४"×२५") शिलालेख का हिन्दी-भाव निम्न प्रकार है:—

१—३। रट्टों के प्रसिद्ध और प्रतापी वंशरूपी समुद्र से जन्मे अनेक राजा ऐसे शोभते थे, मानो पृथ्वी को अलंकृत करने के लिये मोती अथवा रत्न हैं। उनमें सर्वश्रेष्ठ नरेश सेन अतुल भुजविक्रम के धारी हुए।१।

४—५। उन पृथ्वीपति और लखुमादेवी के पुत्र भुवनविख्यात और अतुल पराक्रमी कार्तवीर्य हुए।२।

५—६। उन श्रेष्ठतम नरेश और कमलनयनी पद्मावती के पुत्र वीर-समुदार और प्रसिद्ध लक्ष्मीदेव हुए।३।

६—८। उनकी प्रिय रानी चन्द्रिकादेवी थी, जो निर्मल चारित्र की धारक और पृथ्वी पर प्रसिद्ध थीं। वह एक महान् दातार और लोक के हृदय को आनन्द देनेवाली थीं, क्योंकि घटसर्प (रोग) पर विजय पाने पर उनका जयघोष शब्द हुआ था।४।

८—९। उनके प्यारे पुत्र कार्तवीर्य और मल्लिकार्जुन थे। कार्तवीर्य की विभूति

इन्द्रतुल्य थी। वह संग्रामों में प्रसिद्धि पा चुके थे और उनके चरणों की सेवा राजाओं के मस्तकों ने की थी।५।

९—१६। स्वस्ति! जब कि प्रतापी महामंडलेश्वर कार्तवीर्य अपनी राजधानी वेणुग्राम मे शासन करते हुए सुखदवात्रा में कालक्षेप कर रहे थे : कार्तवीर्य महामंडलेश्वर, समधिगत-पंच-महाशब्द-गत, लट्टनूर-पुरवराधीश्वर, त्रिवलि-तूर्य-निर्घोषण, रट्टकुल-भूषण, सिंधूरलाञ्छन, सफलिकृतविद्वज्जन-आभिवाञ्छन, साहित्य-विद्या-विरञ्चि, वीरकथा-करणन-जात-रोमांच, स्वर्णगरुड़ध्वजी, सहजमकरध्वज, संग्राम-तूलि-कृत-गदा-दंड, कदन-प्रचंड, सिंधुरारिबंधुर-कबन्ध-नर्तन सूत्रधारि, रिपुसिरःखंडन-कराल-करवाल, मंडलिक-गंड-तल-प्रहारि विभव-संक्रदन साहस-ओत्तुङ्ग और बप्पनसिंग थे। उनके यह और अन्य बिरुद थे। उनके चरणकमलोपसेवी :

१६—१८। बाचरस कङ्कणनूरु के स्वतंत्र स्वामी थे। उनकी पत्नी परसियव्वे कमलवदनी और मोहककेशावलियुक्त थीं। उनके पुत्र थे :

१८—२०। श्रीपति हेम्मणय्य, लोकप्रिय चित्तणय्य, राजदरबारों में प्रसिद्ध प्रतापी कालिमय्य और दंडनायक चावुंडराय। कालिमय्य विद्यारसिक और रट्टराज्योद्धरण परिणत थे।६।

२१—२२। यह चारो राजनीति में निपुण, विजय के विश्रामस्थल, रट्टराज्य संरक्षण के लिए साक्षात् ब्रह्मा द्वारा स्थापित साफल्य के चार साधन थे।७।

२२—२३। उनमें ज्येष्ठ हम्मराज नृपवर कार्तवीर्य का कृपापात्र था।

२४—२५। उसने अपने वंशगत प्राप्त दानपत्र को फिर लिखाया। उसका सार इस लेख में निम्नप्रकार गर्भित किया जाता है :—

२५—२६। स्वस्ति! जगतीतल में प्रसिद्ध एरेगनृप रट्टकुल के स्तंभ, लोकप्रसिद्ध और महती राज्य के आदिकर्त्ता थे।१०।

२६—२८। जब वह कुंडी राजधानी से शासन कर रहे थे तब शक ५०० मन्म संवत्सर आषाढ़ कृष्ण १० सोमवार को।

२८-३२। प्रतापी महामंडलेश्वर एरेगदेवरस ने जलधारा द्वारा प्रचंड दंडनायक कङ्कणनूरु के स्वामी मादिराज को ४१०० कम्बभूमि .....दान की, जिसपर उनका पूरा स्वामित्व और आठ प्रकार का भोग अधिकार प्राप्त था।

३२-३३। नृप के सेनापति का जन्म कन्नडिगवंश में हुआ है। वह सांडिल्य ऋषि के ब्राह्मणवंश में हुए और अपने शौर्य से शत्रुओं को नष्ट किया।११।

३३-३५। दंडनायक-कमल-सूर्य मादिराज दंडाधीश्वर ....मानो यमपुत्र ही थे ! ।१२।

३६-३७। ५५० कम्ब भूमि मूलस्थान के कलिदेव के आचार्य को और एक घर .....४५० कम्ब भूमि यापनोय संघ की मूल बसदि (मंदिर) को और एक दानशाला भी।

३८। ५५० करमुक्त कम्ब भूमि मूलसंघ-बसदि को और एक दानशाला भी।

३८-३९। दंडाधिप हेम्म ने मूलस्थानद कलिदेव का मंदिर और दोनों मूल बसदिओं (जिनमंदिरों) का जीर्णोद्धार कराया। उन्होंने दोनों का धार्मिक क्रियाकाण्ड मिलाकर एक कर दिया।१३।

३९-४१। मानवजीवन को सफल करनेवाले चारों पुरुषार्थों को पवित्रभूत अच्छे मंदिर उन्होंने बनवाये और ग्रामदेवता के शिरोभूषण भी तथा खूब जीर्णोद्धार कराया।१४।

४१-४२। तालाब, कुएँ, जलागार, बाग-बगीचे आदि उन्होंने नगर के चहुंओर बनवाये। ऐसा उनका पुण्य है।१५।

४२ ४५। प्रभु हेम्मय्य उस अद्भुत स्थान पर रहते थे ..... प्रशंसनीय थे, कुलव्योम में प्रचंडसूर्य थे, महान् पुण्यशाली थे, अनिन्द्यचरित्र थे ज्येष्ठ पुत्र थे, लोक-प्रबंध करने के लिये योग्य थे और श्रेष्ठ वाचस्पति थे।१६।

४५-४६। वह अपने कुलव्योम के चमकते चन्द्र और अनेक विद्यासम्पन्न थे .....१७।

४६-४७। ३०० कम्ब भूमि .....ब्रह्मेश्वर को.....।

४८। ४५० कम्ब भूमि शिल्पकार्य के लिए.....।

४८। ४५० कम्ब भूमि कलश के लिए..... ..।

४९। २५० भूमि बलादि के लिए.....।

५०। २०० भूमि ब्रह्मदेव के लिए .....।

५०-५१। ४५० भूमि ग्राम कर्णिक (clerk) के लिए ....।

५१-५२। ३०० भूमि दरबान के लिए.....।

५२-५३। ३०० कम्ब भूमि .....ब्रह्मपुरी..... ..१०० कम्ब भूमि विनायक के लिए ....।

५४-५५। १०० कम्ब भूमि ....।

५६। जो नृप इस दानपत्र का पालन करेंगे वह इह और परलोक में सुखी होंगे, पर जो इसको छीनेंगे वह अपने पूर्वजों सहित नरक में पड़ेंगे। ८।

५७। जो स्वदत्त या परदत्त दान छीनेगा वह साठ हजार वर्षों तक कृमि हो दुखी होगा।१९।

इस लेख से रट्टवंश के नृप एरेग का पता चलता है। वह भी जिनेन्द्रभक्त थे। उनके दंडनायक, मादिराज, एक प्रचंड वीर थे। साथ ही वह धर्मरत्न और जिनधर्म-प्रभावक भी थे। उनके पुत्र दंडाधिप हेम्म थे। उन्होंने कई मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया था। खास बात यह है कि यद्यपि यापनीयसंघ और मूलसंघ के मंदिर अलग-अलग थे, परन्तु उन्होंने दोनों की पूजा-व्यवस्थादि मिलाकर एक कर दी। इससे स्पष्ट है कि दोनों संघों की पूजाविधि आदि में विशेष अन्तर नहीं था।

प्राचीन इंग्लेश्वर के कुएँ पर लेख नं० ३९ अङ्कित है, जिसका हिन्दी-भाव यों है :—

१-६। इंग्लेश्वर के स्वामी शशिनाथ ने प्रसन्नता पूर्वक अद्वितीय तीर्थनाथ मल्लिनाथ जिननाथ का एक पाषाण मंदिर बनवाया, मानो वह देवेन्द्र का रत्नागार ही हो।

७-१०। (मंदिर बनने का समय है, परन्तु वह घिस गया है)

बड़गाँववस्ति (कोल्हापुर) के शिलालेख नं० ४० का हिन्दी-रूप निम्नप्रकार है :—

१-२। शान्तिनाथ को नमस्कार हो। अमोघ और महान् स्याद्वाद लाञ्छनयुक्त त्रिलोकीनाथ श्री जिननाथ का शासन जयवंता प्रवर्तो!

२-५। पंचकल्याण(क) युक्त, स्याद्वादलाञ्छन सहित जो विश्वज्ञान ज्ञापक है, ऐसे सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तीश्वर और पंचम चक्रनाथपद प्राप्त गौतम(स्वामी) हमें इस धरातल पर शाश्वत अच्युतपद प्रदान करें।

५-६। शिवकोटि-नृप-प्राणि, जिनका नाम बाल-भट्टारक और जो सेनगण में प्रसिद्ध है, वह मध्याह्नकल्पभूरुह थे। (the mid-day desire yielding tree).

७-८। प्रसन्न शासनदेवी ज्वालिनी से उन्हें वरदान प्राप्त था। वह कवियों के लिये (bridle-bit) थे। वह वृषभसेनान्वय और पुष्करगच्छ के थे।

८-९। मैं लक्ष्मीसेन मुनियों की वंदना करता हूँ जो दिल्ली, करवीर, काञ्ची और पेनुगोंडे के पीठ (स्थानों) में विराजित हैं।

९-१०। कुन्तलदेश में अनेक बाग, कुएँ, तालाब, नदियाँ और ईख के खेत हैं। उसमें सार्थक नाम बड़गावि है।

११-१२। उस स्थान का स्वामी भारद्वाजगोत्री नेमि था, उनकी पत्नी पद्मावती थीं। दोनों से पंचमवंश वहाँ चमका था।

१२-१३। मये समस्त पंचव्रतों के, पंच ..... भक्ति के, और गति एवं कल्याण के योग्य होते 'पंचम' (वंश) अस्तित्व में आया।

१३ १४। उस वंश में बुक्क हुये, जो नाना प्रकार का आहार ऋषिसंघ को दान देते थे।

१५-१६। उनका पुत्र देवप था। उनकी पत्नी नेमा थीं। इनके पुत्र आदप महान् धर्मात्मा थे।

१६-१७। उनकी पत्नी अक्कमा थीं, जिनके दो पुत्र—ज्येष्ठ लघुम और छोटे बुक्क हुए।

१७-१८। लघुम की पत्नी आदव्व एक प्रसिद्ध महिला, सर्वगुणसम्पन्न और सीता सती समान थीं।

१८-१९। उनके चंद्र-सूर्य की तरह प्राची दिक् से ज्येष्ठ पुत्र वलवान् और प्रसिद्ध आदप्प और लघुपुत्र लोकप्रसिद्ध अक्कप्प हुए।

२०। वुक्कसेट्टि की प्रिय पत्नी सानव्व थीं। उनके पुत्र का प्रिय नाम सात था।

२१। तीनों अपनी पत्नियों सहित ऐसे चमकते थे, मानो एक हों। अपनी पत्नियों की सम्मति से उन्होंने एक चैत्यालय बनाया।

२२-२४। चैत्यालय में एक परकोट, कलशध्वजयुक्त गोपुर, और मानस्तंभ भी था। पंडितों ने उसकी बिम्ब प्रतिष्ठा और महासंघपूजा की, यह सोचकर कि इस लोक व परलोक में सुखकर होगी।

२४-२६। सं० १६९६ जय संवत्सर पुष्य कृष्ण १ को शान्ति जिनबिम्ब की स्थापना हुई।

२६-२७। जो मंदिर व मूर्ति का जीर्णोद्धार करेगा वह महती पुण्य संचय करेगा और जो इनकी रक्षा करेगा वह अक्षय फल पायगा।

२७-२९। जो धर्मकार्य को, मंदिर व मूर्ति को नाशेगा वह स्त्रियों, बालकों, गउवों सूअरों और कोड़ियों का नाशक होगा। वह अपने सौ जन्मों में कुत्ता होगा।

२९-३०। यह शान्तिजिन का शासन लेख यावद्चन्द्रदिवाकर इस पृथ्वी पर वर्द्धमान रहे। जिनशासन की वृद्धि हो!

३१-३२। धम-कर्म के पुण्यफल-द्वारा ही नर-देव गण और तीर्थङ्कर की पदवी मिलती है। अतः धर्म-कर्म करना चाहिए।

३३-३४। जो धर्म-कर्म करता है और जिनपूजा करता है, वह अभय है। उसकी सब विघ्न-वाधायें नश जाती हैं। उसे इच्छित फल प्राप्त होता है। लोग आकर्षित होते हैं। धर्मवृद्धि हो।

३५। शालिवाहन नृप शक १६५६ पौष्य कृष्ण १ वृहस्पति को।

इस लेख से दक्षिण भारत के पंचम जातीय जैनियों की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि पंचम जाति के लोगों को जब धर्मकर्म के योग्य आचार्यों ने पाया, तो उन्हें पंच अणुव्रतादि देकर जैनधर्म में दीक्षित कर लिया। इस लेख में बिम्बप्रतिष्ठा का भी उल्लेख है।

इस प्रकार इन लेखों से तत्कालीन जैनस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। यदि अन्य स्थानों के जैन लेखों का संग्रह किया जाय, तो इसी प्रकार इतिहास का उद्योत हो!

केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री]

केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि फलित ज्योतिष से सम्बन्ध रखता है। अभी हाल में श्रीमान् श्रद्धेय पं० के० भुजबली जी शास्त्री मूडबिद्री गये थे और वहीं से इसकी नकल करवा कर लाये हैं। इसकी पृष्ठ संख्या २४ है, प्रत्येक पृष्ठ में ११ लाइनें हैं और प्रत्येक लाइन में प्रायः २३ अक्षर हैं। भाषा संस्कृत है, कहीं-कहीं बीच में प्राकृत गाथाएँ भी दी गई हैं। इसका विषय प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नानुसार फल बतलाना है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता समन्तभद्राचार्य बताये गये हैं, परन्तु ग्रन्थ के भीतर ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं है, जिससे ग्रन्थकार का निर्णय किया जा सके। इसमें अक्षरों के पाँच वर्ग निश्चित किये हैं :—

अ ए क च ट त प य शाः, इति प्रथमः ॥१॥
आ ऐ ख छ ठ थ फ र षाः, इति द्वितीयः ॥२॥
इ ओ ग ज ड द ब ल साः, इति तृतीयः ॥३॥
ई औ घ झ ढ ध भ व हाः, इति चतुर्थः ॥४॥
उ ऊ ङ ञ ण न माः, अं अः, इति पञ्चमः ॥५॥

एतान्यक्षराणि कथकस्य वाक्यतः प्रश्नाद्वा गृहीत्वा स्थापयित्वा सुष्ठु विचारयेत्।

प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न के अनुसार अक्षरों को लेकर इसमें फल बताया गया है। अर्थात् उपर्युक्त पाँचो वर्ग के अक्षरों में से कोई भी अक्षर प्रश्नकर्त्ता से स्पर्श करवाके या इन्हीं अक्षरों में से कोई भी अक्षर की कल्पना करा के उसका फल बतलाया गया है। आगे इन्हीं अक्षरों के संयुक्त, असंयुक्त, अभिहत, अनभिहत, अभिघातित इन पाँच मिश्रित वर्गों को लेकर तथा आलिंगित, अभिधूमित, दग्ध—इन तीन क्रियाविशेषणों से प्रश्न का विचार किया गया है। स्ववर्ग संयोग में स्वकीय चिन्ता और परवर्ग संयोग में परकीय चिन्ता बताई गई है। अनभिहत का फल इस प्रकार बताया है :—

"स्ववर्गे व्याधिपीडां परवर्गे शोकसंतापदुःखभयपीडांश्च निर्दिशेत्।"

अर्थ—स्ववर्ग के अनभिहत प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर होने पर व्याधि, पीड़ा आदि फल और परवर्ग के अनभिहत प्रश्नाक्षर होने पर शोक, संताप, दुःख, पीड़ा आदि फल होता है। इस प्रकार उपर्युक्त आठ प्रकारों से प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का विचार बहुत अच्छी तरह से किया है। इसके पश्चात् इस ग्रन्थ में नष्ट-जातक-पत्र बनाने का विषय सब से महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय है। प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर पर से योनि, गण, सम्वत्, मास, पक्ष, तिथि, लग्न, नक्षत्र आदि का ज्ञान किया है। हिन्दू-ज्योतिष के किसी भी ग्रंथ में प्रश्नाक्षर पर से नष्ट-जातक बनाने की विधि नहीं बताई गई है; बल्कि सब जगह प्रश्नलग्न पर से ही नष्ट-जातक

बनाने की विधि दृष्टिगोचर होती है। प्रश्नाक्षर पर से नष्ट-जातक बनाने में बहुत कम परिश्रम करना पड़ता है। अतः जिनकी कुंडली नहीं है उनकी भी जन्म-पत्रिका बहुत सरलता से बन सकती है। योनि जानने का निम्नप्रकार निश्चय किया है :—

तत्र त्रिविधो योनिः। जीवधातुमूलमिति। अ, आ, इ, ए, ओ, अः, इत्येते जीवस्वराः षट्। क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श स हाः, इति पंचदश व्यञ्जनाक्षराणि च जीवाक्षराणि भवन्ति। उ, ऊ, अं इति त्रयः स्वराः, त थ द ध प फ ब भ व साः, इति त्रयोदशाक्षराणि धात्वक्षराणि भवन्ति। ई ऐ ओ इति त्रयः स्वराः; ङ ञ ण न म ल र षाः, इत्येकादशाक्षराणि मूलानि भवन्ति। प्रश्ने जीवाक्षराणि धात्वक्षराणि मूलाक्षराणि च परस्परं शोधयित्वा तत्र योऽधिकः स एव योनिः। दग्धालिंगिताभिघूमितश्चेत्धातुः। आलिंगिताभिघूमितदग्धाश्चेत् जीवः। तत्र जीवः द्विपदः चतुष्पदः अपदः संकुलेति चतुर्विधः। अ ए क च ट त प य शाः द्विपदाः। आ ऐ ख छ ठ थ फ र षाः चतुष्पदाः। इ ओ ग ज द ब ल साः अपदाः। ई औ घ झ ढ ध भ व हाः पादसंकुलाः भवन्ति।

अर्थात्—योनि के मूल में तीन भेद हैं। जीव, धातु और मूल। अ आ इ ए ओ अः क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श ह ये २१ अक्षर जीवसंज्ञक; उ ऊ अः त थ द ध प फ ब भ व स ये १३ अक्षर धातुसंज्ञक और ई ऐ ओ ङ ञ ण न म ल र ष ये ११ अक्षर मूल संज्ञक हैं। जीव योनि के पुनः द्विपद, चतुष्पद अपद, पादसंकुला ये ४ भेद किये हैं। इनकी पहचान उत्तरोत्तर, अधरोत्तर, अधराधर आदि वर्ण संज्ञा से की गई है। द्विपद आदि योनियों के भी कई अवान्तर भेद किये हैं, जिनसे जातक के गण का ज्ञान हो जाता है। धातु और मूल योनि के भी कई अवान्तर भेद गिनाये हैं। इनके पहचानने की विधि भी बताई गई है। नष्ट-जातक के जन्ममास का ज्ञान निम्न प्रकार से किया है :—

अ, ए, क फाल्गुणः; च, ट चैत्रः; त, प कार्त्तिकः; य, श मार्गशिरः; आ ऐ ख छ ठ थ फ र षाः माघः, इ ओ ग ज ड दाः वैशाखः; द ब ल साः ज्येष्ठः; ई औ घ झ ढाः आषाढः; ध भ व हाः श्रावणः; उ ऊ ङ ञ णाः भाद्रपदः; न, म, अं, अः आश्वियुजः।

अर्थात्—प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर में यदि अ ए क हों तो फाल्गुण; च ट हों तो चैत्र; य श हों तो मार्गशिर; त प हों तो कार्त्तिक; आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष हों तो माघ; इ ओ ग ज द हों तो वैशाख; द ब ल स हों तो श्रावण; उ ऊ ङ ञ ण हों तो भाद्रपद और न म अं अः हों तो आश्विन जन्म मास जानना चाहिये।

पक्ष जानने के लिये निम्न प्रकार बताया है :

अ ए क च ट त प य शाः शुक्लपक्षः, आ ऐ ख छ ठ थ फ र षाः कृष्णपक्षः, इ ओ ग ज द ब ल साः शुक्ल पक्षः, चतुर्थवर्गोपि (ई औ घ झ ढ ध भ व हाः) कृष्णपक्षः, पञ्चवर्गोभयपक्षाभ्यां एकान्तरितभेदेन ज्ञातव्यः।

अर्थात्—प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर यदि अ ए क च ट त प य श हों तो शुक्ल पक्ष का जन्म; आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष हों तो कृष्ण पक्ष का जन्म; इ ओ ग ज द ब स हों तो शुक्ल पक्ष का जन्म; घ झ ढ ध भ व ह हों तो कृष्णपक्ष का जन्म जानना चाहिये।

नष्ट-जातक-पत्र की तिथि जानने की विधि निम्न प्रकार है :—

अ, इ, ए शुक्लपक्ष प्रतिपत्। क २, च ३, ठ ४, त ५, प ६, य ७, श ८, ग ९, ज १०, ड ११, द १२, उ १३, ल १४, स १५ इति शुक्लपक्षः। अं, पञ्चम्यादि; अः, त्रयोदश्याम्।

अर्थात्—यदि प्रश्नकर्त्ता के अ इ ए अक्षर हों तो शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, क हो तो शुक्लपक्ष की द्वितीया, च हो तो शुक्लपक्ष की तृतीया, ठ हो तो शुक्लपक्ष की चतुर्थी, त हो तो शुक्लपक्ष की पञ्चमी, प हो तो शुक्लपक्ष की षष्ठी, य हो तो शुक्लपक्ष की सप्तमी, श हो तो शुक्लपक्ष की अष्टमी, ग हो तो शुक्लपक्ष की नवमी, ज हो तो शुक्लपक्ष की दशमी, ड हो तो शुक्लपक्ष की एकादशी, द हो तो शुक्लपक्ष की द्वादशी, ब हो तो शुक्लपक्ष की त्रयोदशी, ल हो तो शुक्लपक्ष की चतुर्दशी, स हो तो पूर्णिमा, अं हो तो कृष्णपक्ष की पञ्चमी और अः हो तो कृष्णपक्ष की त्रयोदशी जन्म तिथि जाननी चाहिये।

"अष्टसु वर्गेसु राहुपर्यन्ता अष्टग्रहाः, ङ ञ ण न मेषु केतुश्च।"

अर्थात्—यदि प्रश्नाक्षर क ख ग घ हों तो सूर्य, च छ ज झ हों तो चन्द्रमा, ट ठ ड ढ हों तो मंगल, त थ द ध हों तो बुध, प फ ब भ हों तो गुरु, य र ल व हों तो शुक्र, श ष स हों तो शनि, ह हो तो राहु और ङ ञ ण न म हों तो केतु जानना चाहिये।

"अकरादि द्वादशमात्राः स्युर्द्वादशराशयः।

अर्थात्—यदि अ मात्रा प्रश्नाक्षर में हो तो मेष, आ हो तो वृष, इ हो तो मिथुन, ई हो तो कर्क, उ हो तो सिंह, ऊ हो तो कन्या, ए हो तो तुला, ऐ हो तो वृश्चिक, ओ हो तो धनु, औ हो तो मकर, अं हो तो कुम्भ, अः हो तो मीन लग्नराशि जाननी चाहिये। तत्पश्चात् गमनागमन, लाभालाभ आदि विषयों का विवेचन प्रश्नाक्षरों पर से किया है। यह विषय भी ज्योतिषशास्त्र में नवीन और उपयोगी है। शुभाशुभ का विचार निम्न प्रकार से बताया है—

अभिधूमितमात्रे संयुक्ताक्षरे दीर्घायुः। प्रश्ने अभिधातिताषु शीघ्रमरणमादिशेत्। संकठ मात्रसंयुक्ताधराक्षरेषु रोगो भवति। दीर्घस्वर संयुक्तोत्तराक्षरेषु दीर्घरोगो भवति। अधरोत्तरेषु धात्वक्षरेषु अभिमतस्त्रीसंयुक्तेषु स्त्रीभ्यो मृत्युर्भवति।

अर्थ—प्रश्नाक्षर अभिधूमित† संयुक्ताक्षर होने पर दीर्घायु होती है। प्रश्नाक्षर अभिघातित होने पर शीघ्र मरण होता है। संकठ संयुक्ताधराक्षरों के होने पर बड़ा रोग होता है। अर्धसंयुक्ताक्षरों के होने पर स्त्रियों से मृत्यु होती है। अधरोत्तर धातु अक्षरों के होने पर स्त्रियों से मृत्यु होती है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में कई नवीन और महत्त्वपूर्ण विषय दिये गये हैं, जो अन्यत्र शायद ही मिलेंगे। ग्रन्थ उपयोगी है। इसके प्रकाशित होने की आवश्यकता है। आशा है, कोई दानी सज्जन इसको प्रकाशित करा कर जैन-साहित्य का उपकार करेंगे।

† यह संज्ञाविशेष है; ग्रन्थकर्ता ने इसको स्वयं विस्तार से स्पष्ट किया है।

पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'

[ले०—श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे]
अनु०—शान्तिलाल जैन, शास्त्री, बनारस

प्रस्तुत पुस्तक त्रावंकोर दरबार की ओर से निकलनेवाली 'त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज़' में गत वर्ष प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक का संशोधन त्रावंकोर के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने किया है। प्रस्तुत पुस्तक के कर्ता 'संगीताकरनामधेय श्री पार्श्वदेव' हैं। इनके बारे में अभी तक कोई विशेष हकीकत मालूम नहीं है; परन्तु टी० गणपति शास्त्री स्वयं प्रस्तावना में लिखते हैं कि ग्रन्थकर्ता श्री पार्श्वदेव जैन-परम्परा के होने चाहिए क्योंकि उनका नाम एक जैन तीर्थंकर के नाम से मिलता है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थ का, मेरे अभिप्राय में, अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि उसमें तत्कालीन केवल देशी संगीत का ही वर्णन है। उस ग्रन्थ की भाषा, उसमें आया हुआ विषय और उसमें किए हुए वर्णन को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब ग्रन्थकार अर्थात् श्री पार्श्वदेव संगीतरत्नाकर के समय के आसपास के होने चाहिए। ग्रन्थकार स्वयं द्वितीय अधिकरण के प्रथम श्लोक में ही भोजराज और सोमेश्वर का उल्लेख करते हैं। भोजराज का समय ई० सन् १०५३ और सोमेश्वर का ई० सन् ११८३ है। इस प्रमाण से ग्रन्थकार अथवा ग्रन्थ का समय ई० सन् ११८३ के बाद का सिद्ध होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'संगीतसमयसार' है। इसका उल्लेख दूसरे ग्रन्थकारों ने भी किया है। उसमें से रागविबोधकार श्री सोमनाथ ने अपने 'रागविबोध' के तृतीय विवेक में 'प्रबन्ध' के बारे में लिखते हुए 'तथा च पार्श्वदेवः' ऐसा कह कर लिखा है कि—"चतुर्भिर्धातुभिः षड्भिश्चांगैर्यस्मात्प्रबध्यते, तस्मात्प्रबन्धः कथितो गीतलक्षणकोविदैः।" इस प्रकार रागविबोधकार ने 'संगीतसमयसार' के प्रबन्ध की व्याख्या की है। उनका समय शक १५३१ अर्थात् ई० सन् १६०० है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ ई० सन् १२०० और १६०० के बीच का होना चाहिए। अब इस ग्रन्थ के अन्तरंग को देखें।

ई० सन् १२०० के बाद का संगीत-विषयक सबसे बड़ा ग्रन्थ संगीतरत्नाकर है। इसके बाद संगीतदर्पण, संगीतपारिजात, रागविबोध आदि ग्रन्थ आते हैं। संगीतरत्नाकर का समय ई० सन् १२१० से १२४७ तक निश्चित है। संगीतरत्नाकर और संगीतसमयसार के कर्त्ताओं ने एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया है। शायद दोनों के ग्रन्थ एक दूसरे

के देखने में न भी आए हों। दोनों ग्रन्थों का विषय एक है, परन्तु भाषा भिन्न है। संगीतरत्नाकर में प्रत्येक विषय का वर्णन है जब कि संगीतसमयसार में ऐसा नहीं है। मार्ग और देशी इन दोनों पद्धतिओं का यथायोग्य वर्णन संगीतरत्नाकर में है, जबकि संगीत-समयसार में केवल देशी संगीत के बारे में ही लिखा है; और देशी संगीत के बारे में जितना वर्णन संगीतरत्नाकर में है उतना ही संगीतसमयसार में भी है। इतना ही नहीं, जितने देशी रागों के नाम और लक्षण संगीतरत्नाकर में दिए हैं, उतने ही रागों के नाम और लक्षण संगीतसमयसार में भी हैं। केवल विषय-नियोजना और भाषा भिन्न है। संगीत-रत्नाकर ग्रन्थ पूर्ण स्वरूप में है, ऐसा कहा जा सकता है; परन्तु संगीतसमयसार त्रुटित और कहीं-कहीं तो असम्बद्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ तृतीय अधिकरण में देशी रागों के विभाग जैसे कि रागांग, भाषाङ्ग, छायांग, उपांग आदि बतलाने के बाद फौरन ही सप्त स्वरों के नाम तथा श्रुति-व्यवस्था दी है। फिर तुरंत ही सब विभागों में आए हुए रागों के नाम दिए हैं। अब हम प्रस्तुत पुस्तक में आए हुए नौ अधिकरणों (प्रकरणों) को देखें।

१. प्रथम अधिकरण में नादोत्पत्ति, नादभेद, ध्वनिस्वरूप, उसके भेद, मिश्रध्वनि, शारीरलक्षण, गीत-लक्षण और उसके भेद—आलप्ति, वर्ण, अलंकार आदि विषयों का समावेश है। नादोत्पत्ति के बाद स्वर, श्रुति, मूर्छना आदि की व्याख्याएँ देनी चाहिए थी, परन्तु वे इस ग्रन्थ में दिखाई नहीं देती। आलप्ति इत्यादि का वर्णन श्रुति, स्वर की व्याख्या के बाद आना चाहिए। स्थायी और दूसरे मिलाकर तेरह अलंकार और सात ही गमक दिए हैं। शायद ग्रन्थकार ने उस समय जितने अलंकारों और गमकों का प्रयोग होता होगा, उतने ही दिए हैं---ऐसा भी कहा जा सकता है।

२. द्वितीय अधिकरण में आलाप के भेद, स्थायी के नाम, करण और उनके स्वरूप दिए हैं। प्रस्तुत वर्णन संगीतरत्नाकर से जरा भी भिन्न नहीं है। स्थायी के नामों को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने महाराष्ट्र तथा कर्णाटक में प्रचलित संगीत की तरफ विशेष ध्यान दिया है। कर्णाटकी नाम बहुत बार देखने में आते हैं। इससे ग्रन्थकार स्वयं कर्णाटक की तरफ के हों, ऐसी सम्भावना होती है। जैसे कि जोडणे (करुणा), गीताचे ठाय, जोडीचे ठाय, सादाचे ठाय, शारीरचे ठाय, मुयेय, हन्दुपायी, धरीमेल्ली, निवकरड, भजवणे, नीजवणे, उट्टुंटुल, परिवडी, बुढ्ढाये इत्यादि स्थायी के नामों से ग्रन्थकर्ता का कर्णाटकीपना समझा जा सकता है।

वादी-स्वर अर्थात् जीव-स्वर। जिस राग में जो स्वर मुख्य हो अथवा जिसके बिना रागदर्शन ही न हो सके वह वादी-स्वर है। उसकी सुन्दर व्याख्या इस ग्रन्थ में दी है—

"सप्तस्वराणां मध्येऽपि स्वरे यस्मिन् सुरागता।
स जीवस्वर इत्युक्ते अंशो वादी च कथ्यते॥"

संवादी, विवादी और अनुवादी स्वरों की व्याख्या भी इतनी ही स्पष्ट दी हुई है।

आलप्ति करने की पद्धति संगीतरत्नाकर के साथ बिलकुल मिलती-जुलती है, केवल भाषा ही भिन्न है। गानेवाला गाना प्रारम्भ करने से पूर्व जिस राग में गाना हो उस राग के आलाप गाने के बाद ही स्थायी गाता है। यह पद्धति पूर्व में भी थी। ऐसा ही वर्णन इस पुस्तक में है—

"ततो गायनः पूर्वोक्तप्रकारेण रागस्याकारं स्थापनां च दध्यात्।
रागालप्तिः क्षेत्रशुद्धिर्युता तालविवर्जिता।
रागस्य शुद्धता क्षेत्रशुद्धिरित्यभिधीयते॥२८॥
गीतस्योत्पत्तिहेतुत्वाद्रागः क्षेत्रमिहोच्यते।
ततो रूप (क) ? रागेण तत्तालं नातिविस्तराम्॥२९॥"

इसके पश्चात् स्थायी के लक्षण दिए हुए हैं और वे सब लोकप्रसिद्ध हैं—ऐसा ग्रन्थकार स्वयं ही कहते हैं।

आगे जाने पर रागों के अंश दिए हैं। उनमें यह श्लोक महत्त्व का है—

"अंशो जनकरागस्य कारणांश इतीरितः।
श्रीरागजनिते गौडे श्रीरागस्यांशको यथा॥
अंशोऽन्यरागस्य पुनः कार्यांश इति कथ्यते॥"१०७॥

यहाँ कारणांश की व्याख्या देते हुए श्रीराग में से उत्पन्न गौड़ राग का उदाहरण दिया है, यह बहुत महत्त्व का है। श्रीराग में से ही गौड़ राग की उत्पत्ति हुई है—ऐसा इसका स्पष्ट अर्थ होता है। संगीतरत्नाकर में लिखा है कि गौड़ राग टक्कग्राम राग में से उत्पन्न होता है और वहाँ उसका वर्णन टक्कराग के नीचे ही किया है—

"गौडस्तदंगवि (नी ?) न्यासग्रहांशः पंचमोज्झितः।"

अर्थात् पंचमस्वर हीन गौड़ राग की टक्कराग में से उत्पत्ति हुई है। संगीतरत्नाकर में श्रीराग की व्याख्या अलग दी हुई है। वह राग किस ग्राम राग से उत्पन्न हुआ है,

यह कहा नहीं है। संगीतसमयसार उसे स्पष्ट बतलाता है कि—

"श्रीरागष्टक्करागांग, म-तारो मन्द्र-गस्तथा।
रि-पंचम-विहीनोऽयं समशेषस्वराश्रयः।
षड्जन्यासग्रहांशश्च रसे वीरे प्रयुज्यते॥"

श्रीराग टक्करात का एक अंग है। उसमें तार म से मन्द ग तक उसकी व्याप्ति है। ऋषभ एवं पंचम वर्जित हैं। बाकी के सा, ग, म, ध, नि, स्वर समस्वर हैं। षड्जस्वर अंश, न्यास और ग्रह है। इस राग की योजना वीररस में होती है।

अब संगीतरत्नाकर की व्याख्या देखें। उसमें 'अधुना-प्रसिद्ध-देशीरागलक्षण' के नीचे श्रीराग सर्व प्रथम दिया है। लक्षण इस प्रकार है—

षड्ज-षाड्जीसमुद्भूतं श्रीरागं स्वल्पपंचमम्।
सन्यासांशग्रहं मन्द्रगान्धारं तारमध्यमम्।
समशेषस्वरं वीरे शास्ति श्रीकरणाग्रणीः॥"

षड्ज-ग्राम में षाड्जी जाति से यह राग उत्पन्न होता है। इसमें अल्प पंचम है। षड्ज-स्वर अंश तथा ग्रह न्यास है। मन्द्र गान्धार से तार मध्यम तक व्याप्ति है। बाकी के स्वर सम हैं। वीर रस में योजना होती है। दोनों ग्रन्थों के लक्षण एक विषय के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में सर्वांशतः मिलते हैं। संगीतसमयसार ऋषभ और पंचम दोनों स्वरों का निषेध करता है जब कि रत्नाकर में पंचम ही अल्प किया है। बाकी सभी लक्षण वैसे ही हैं—ग्रह, अंश, न्यास, व्याप्ति, रस सब कुछ एक ही। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संगीतरत्नाकर के समय में एक तो 'श्रीराग' का संपूर्ण स्वरूप ही अधिक प्रचलित होगा, और यदि ऐसा हम मान लें तो संगीतसमयसार ग्रन्थ की कुछ रागों की वर्गीकरणपद्धति रत्नाकर की अपेक्षा कुछ भिन्न होनी चाहिए, ऐसा अनुमान होता है। परन्तु प्रत्यक्ष देखने पर रत्नाकर में ही आए हुए राग, रागांग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग इत्यादि प्रकार के राग इसमें हमें मिलते हैं। इस अनुमान को तनिक अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है; अर्थात् प्रत्येक प्रमुख राग में जो वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी स्वर होते हैं, उनमें से विवादी-स्वरों को हम रागों में इस तरह स्थान देते हैं जिससे राग के मूल स्वरूप में जरा भी फर्क न आए, प्रत्युत उसकी शोभा ही बढ़े। विवादी-स्वर दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार तो ऐसा होता है कि यदि उसे राग में स्थान दिया जाय तो राग ही बिगड़

जाय। उसे तो हम छोड़ ही दें। दूसरा प्रकार ऐसा है कि थोड़े परिमाण में विवादी-स्वरों को लेना, जिससे राग के विस्तार में बहुत सहायता पहुँचे। अब इस तरह हम देखेंगे तो संगीतसमयसार के ओढव स्वरूप और संगीतरत्नाकर के स्वल्पपंचमवाले स्वरूप इन दोनों का निर्णय हो जायगा। संगीतरत्नाकर में आए हुए ग्रामराग और जातियों के वर्णन में भी बहुत से स्थानों पर हमें उन-उन रागों के संपूर्ण स्वरूपों के अतिरिक्त षाडव और ओढव स्वरूपों के लक्षण मिलेंगे। और इस बात से उपर्युक्त वर्णन का समर्थन ही होता है। इस समय भी हम किसी भी श्रेष्ठ राग में उसके विवादी-स्वरों को रखकर या निकाल कर गा सकते हैं और यही बात प्राचीन रागों के षाडव, ओढव और सम्पूर्ण स्वरूपों का समर्थन करती है। लगभग एक ही समय के ग्रंथों में एक राग का ओढव स्वरूप एक ग्रंथ में और उसी राग का सम्पूर्ण अथवा षाडव स्वरूप दूसरे ग्रंथ में जब देखने में आता है तब दूसरे तर्क की संभावना ही नहीं रहती। इसी प्रकार भैरव, हिंडोल, मालकंस इत्यादि प्राचीन रागों के वर्णन पर से उन-उन रागों को सुलझाना पड़ेगा। अब तृतीय अधिकरण को देखें।

३. इस अधिकरण में केवल उस समय के प्रचलित देशी रागों का ही वर्णन है। रागों के रागांग, भाषांग, उपांग, क्रियांग आदि भेद किए हैं और वे प्राचीन प्रणाली के अनुसार हैं। मध्यमादि, तोडी, वसन्त, भैरवी, श्री, शुद्धबंगाल, मालवश्री, वराही, गौड़, धनाश्री, गुंडक्रति, गुर्जरी, देशी—ऐसे तेरह रागांग राग उनके लक्षण-सहित दिए हैं। वेलावली, अन्धाली, सायरी (असावरी ?), फल (?) मंजरी, ललिता, कैशिकी, नाटा, शुद्ध वराटी, श्रीकण्ठी ये नौ भाषांग राग दिए हैं। बाद में वराही आदि २१ उपांग राग दिए गए हैं। इन सबको मिलाकर कुल ३३ रागों के प्रत्यक्ष लक्षण लिखे हैं। उनमें से कुछ को छोड़कर बाकी सभी के लक्षण संगीतरत्नाकर से मिलते हैं। उनमें से कुछ रागों को क्रमशः मैं यहाँ देना चाहता हूँ।

रागाङ्गानि

१. मध्यमादिः

मध्यमग्रामसम्भूता मध्यमांशग्रहान्विता ॥७१॥
मध्यमादिरितिख्याता शृंगारे विनियुज्यते।
एतामेव प्रयुञ्जादौ वैणिका वांशिकास्तथा ॥७२॥

इस श्लोक में आया हुआ लक्षण संगीतरत्नाकर में भी इसी प्रकार मिलता है और वह 'मध्यमग्राम' के लक्षण के नीचे ही दिया है। जैसे कि—

(मध्यमग्राम).....तदुद्भवा,
मध्यमादिर्मग्रहांशा
इति मध्यमादिः ॥सं० रत्नाकर रागाध्याय ॥६९॥

२. तोडी

अंगं षाडवरागस्य सम्पूर्णश्च समस्वरम् ॥
षड्जतारा गमन्द्रा च न्यासांशग्रहमध्यमा।
तोड्डीनाम प्रसिद्धोऽयं रागो हर्षे नियुज्यते ॥१४॥

(शुद्धषाडव)———तोडिका स्यात्तदुद्भवा ॥७५॥ रत्नाकरश्लोके
मध्यमांशग्रहन्यासा सतारा कम्पपंचमा।
समेतरस्वरा मन्द्रगान्धारा हर्षकारिणी ॥७६॥

३. वसन्तः

मार्गहिन्दोलरागाङ्गं हिन्दोलो वेडि (देशि ?) संज्ञितः।
(मार्गहिन्दोल) अंशन्यासे ग्रहे षड्जस्तस्य तारे तु मध्यमः ॥१५॥
षड्जस्वरो भवेन्मन्द्रे तोडितो (तोडितो ?) रिधवर्जितः।
सपयोः कम्पितश्चैव शृंगारे विनियुज्यते ॥१६॥
अयमेव वसन्ताख्यः प्रोक्तो रागविचक्षणैः ॥
(हिंडोल में से).....वसन्तस्तत्समुद्भवः ॥
पूर्णस्तल्लक्षणो देशी हिन्दोलोऽप्येष कथ्यते ॥९६॥ सं० रत्नाकर।

वसन्त राग ही देशी हिन्दोल कहा जाता है।

४. भैरवः

भिन्नषड्जसमुद्भूतो मन्यासो धांशभूषितः।
समस्वरो रिपत्यक्तः प्रार्थने भैरवः स्मृतः॥ सं. समयसार
(भिन्नषड्ज).....भैरवस्तत्समुद्भवः।
धांशो मान्तो रिपत्यक्तः प्रार्थनायां समस्वरः॥ सं. रत्नाकर अ० २-१८

इसमें दोनों के लक्षण एक ही हैं।

५. श्रीरागः

श्रीरागष्टक्करागाङ्गं मतारो मन्द्रगस्तथा ।
रिपंचमविहीनोऽयं समशेषस्वराश्रयः ।
षड्जन्यासग्रहांशश्च रसे वीरे प्रयुज्यते ॥सं. समयसार

षड्जषाड्जीसमुद्भूतं श्रीरागं स्वल्पपंचमम् ।
सन्यासांशग्रहं मन्द्रगान्धारं तारमध्यमम् ।
समशेषस्वरं वीरे शास्ति श्रीकरणाग्रणीः॥

२--१६१ सं० रत्नाकरे

श्रीराग की व्याख्याओं में जो मतभेद है, उसके बारे में ऊपर ही कहा गया है। संगीतसमयसार में श्रीराग को टक्क राग का अंग माना है, यह ऊपर के श्लोक से स्पष्ट है। श्रीराग में ऋषभ और पंचम वर्जित हैं। ऐसा स्वरूप अन्य किसी भी ग्रन्थ में नही दिखाई देता।

६. शुद्धबंगाल

शुद्धषाडवरागांगं शुद्धबंगालसंज्ञकः ।
न्यासांशो मध्यमेनास्य ग्रहर्षे विनियोजनम् ॥ सं. समयसार

षाडवादेव बंगालो ग्रहांशन्यासमध्यमः ।
ग्रहर्षे विनियोक्तव्यः प्रोक्तः सोढलसूनुना ॥ सं० रत्नाकर २-७७

इसमें दोनों के लक्षण एक ही हैं।

७. मालवश्री

मालवादे (:)भवेदंगं कैशिकस्य समस्वरा ।
सम्पूर्णा तारमन्द्रस्थ-षड्जस्वरविराजिता ॥
षड्जांशन्याससम्पन्ना मालवश्रीरियंमता ।
मूर्छना शुद्धमध्या चेत् सैव हर्षपुरी मता ।
शृङ्गारे विनियोगः स्यादनयोस्तु द्वयोरपि ॥सं. समयसार

(सशेष)

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०]

(क्रमागत)

बेक्क ग्राम—९०, २०७ आदि। होय्सल नरेश नरसिंह ने यह गाँव गोम्मटेश्वर को दान किया था, जब उन्होंने दिग्विजय से लौटकर उनके दर्शन किये थे। उपरान्त वीरबल्लाल नरेश ने भी यह ग्राम गोम्मटेश्वर को भेंट किया था। बेक्क ग्राम के गुरुवपसोवप (?) आदि प्रमुखों ने चामुण्डरायबस्ति के लिये भूमि प्रदान की थी। यह ग्राम श्रवणबेल्गोल के आस-पास होना चाहिये।

बेगूरु ग्राम—३७०। यहाँ के बैयणसेट्टि दानशील थे।

बेडुगनहल्लि—१३७—१३८; दंडाधिप हुल्ल ने इसको दान किया था।

बेलगोल—२४, ४४, ५६, ५९ आदि श्रवणबेलगोल का अपर नाम।

बेलुकरे—४२; यहाँ के सामंत म० शुभचंद्र के भक्त थे।

बेलुगुलनाडु प्रदेश—४८४; के नागगौड ने मंगायिबस्ति के लिये दान दिया था।

भण्डेवाड ग्राम—३६६; के बघेरवाल जैनियों ने श्रवणबेल्गोल की यात्रा की थी। यह ग्राम संभवतः कहीं मध्यभारत में होगा।

भारगवे ग्राम—३७७; यहाँ के हागप्प सेठ प्रसिद्ध थे।

मक राज्य—८१, ४९९; होय्सलनरेश सोमेश्वर ने इस राज्य को जीता था।

मत्तियकेरे—९६; शम्भुदेव ने महामण्डलाचार्य नयकीर्तिदेव के शिष्य चन्द्रप्रभदेव से यहाँ की भूमि खरीद कर गोम्मटदेव के दुग्धपूजन के लिए प्रदान की। इससे प्रकट है कि उस समय (शक ११९६) भट्टारक लोग अपने पास भूमि रखते थे।

मधुरापुरी—१५८; दक्षिणभाग की मदुरा नगरी से आकर अक्षयकीर्ति ने यहाँ समाधि-मरण किया था। यह प्राचीन नगर है। ई० पूर्व ३०० वर्ष से इसका अस्तित्व मिलता है। तब पांडु राजा राज्य करता था। मेगस्थनीज़ ने इसका उल्लेख किया है। यहीं के राजा उग्रपेरुवल के दरबार में ४८ कवियों के समक्ष प्रसिद्ध काव्य 'कुरल' प्रकाशित हुआ था। प्राचीन काल में यहाँ जैनधर्म खूब फैला हुआ था। मदुरा का दि० जैन संघ प्रसिद्ध था। 'कथाकोष' से स्पष्ट है कि यहाँ के संघ का आदान-प्रदान उत्तर मथुरा के संघ से होता था। यहाँ पर श्री वज्रनन्दि ने 'द्राविड़ संघ' की स्थापना की थी (दर्शनसार)। तामिल काव्य 'मणिमेखलै' और 'शिलप्पदिकारम्' से भी प्रकट है कि मदुरा में जैनधर्म फैला हुआ था।

निर्ग्रन्थ मुनिगण नगर-ग्रामों के बाहर ठंडे मठों में रहते थे, जिनकी दीवालें बहुत ऊँची और लाल रंग से पुती होती थीं। उनमें पुष्पोद्यान भी होते थे। तिराहों और चौराहों पर जैन मंदिर बने हुए थे। मुनिगण चौराहों पर बने हुए चबूतरों पर से जनता को धर्मोपदेश दिया करते थे। दशवीं शताब्दि में शैवधर्म के प्रचार से जैनधर्म को धक्का पहुँचा था। मदुरा का कुण पांड्य नामक राजा शैव हो गया था।

मनचेनहल्लि—१०७; बेक्क ग्राम के निकट अवस्थित था।

मन्नार्कोविल—४३९; यहाँ की पद्मावतियम्म श्राविका ने पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा प्रदान की थी।

मलनूर ग्राम—८; यहाँ के उग्रसेन गुरु ने एक मास का संन्यासव्रत पाला था।

मलेयूर—४३४; इस पहाड़ी पर एक मंदिर था—यह वहीं पर कहीं थी।

मलेगोल—२९७; यहाँ के अरिष्टनेमि पंडित पर-समय-ध्वंसक प्रसिद्ध थे।

माडगढ़, माडवगढ़—३८२, ३८६, यहाँ के बघेरवाल जैनियों ने यात्रा की थी।

माडिगूर ग्राम, ११६; श्रुतसागर गणी के साथ यहाँ के नागप्प आदि व्यक्तियों ने तीर्थवंदना की थी।

मारगौण्डनहल्लि—८६; इस ग्राम के गुम्मज्ज बैरेय ने गोम्मटदेव की पूजा के लिए दान दिया था।

मालवदेश—५४, १३८ व ४९९। श्री समन्तभद्राचार्य जी ने मालवदेश में भी वादभेरी बजाई थी। होय्सल नृप एरेयङ्ग ने मालव की राजधानी धारा को अधिकृत किया था। (मालवमण्डलेश्वरपुरीं धारामधात्त क्षणात्) सोमेश्वर ने भी मालवाधिपति पर विजय पाई थी। मालवदेश जैनधर्म का केन्द्र मौर्यकाल से चला आ रहा था।

मासवाडिनाडु प्रदेश—१२४; दक्षिण में कहीं पर था।

मुत्तगदहोन्नहल्लि—१३३ यहाँ के गौडों ने मंगायिवस्ति के लिये दान दिया था।

मुल्लूर—४४, ५४, दंडाधिप गंगराज की माता पोचिकव्वे के गुरु कनकनन्दि इस ग्राम के थे। वह 'मुल्लुरदुरितकायक्क' कहे गये हैं। इसी ग्राम के गुणसेन पंडित भी प्रसिद्ध थे। यह जैनियों का केन्द्र था और यहाँ की मुनि-परम्परा प्रख्यात थी, जिसके भक्त राजा-महाराजा थे। सन् १०५८ ई० में राजेन्द्र कोङ्गाल्व ने यहाँ के पार्श्वनाथबस्ति को भूमिदान दिया था, जिसे उसके पिता ने बनवाया था। सन् १३९० ई० में एक अन्य कोङ्गाल्व नरेश ने यहाँ की चन्द्रनाथबस्ति (मंदिर) का जीर्णोद्धार कराया था। इस राजा के गुरु विजयकीर्तिदेव आर्य शुभेन्दु के शिष्य थे। इस राजा की रानी सुगुणी देवी ने अपने अंगरक्षक विजयदेव द्वारा चन्द्रनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा करा कर भूमिदान दिया था। यह ग्राम कुर्ग प्रदेशमें था।

मैसूर, मैयिसूर, महीसूर—८३, ८४, ९८, १४०, ४३४। वर्तमान मैसूर राज्य है। यहाँ के वर्तमान ओडेयर वंशी राजाओं में से कई श्री गोम्मटेश्वर के अनन्य भक्त थे। उन्होंने गोम्मटदेव के लिये ग्राम भेंट किये थे। इस समय भी जैनियों के परामर्श से राजकर्मचारी श्रवणबेल्गोल तीर्थ को उन्नत बनाने का प्रयत्न करते हैं। मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त अपने गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु-सहित इस राज्य में पधारे थे। तभी से यहाँ जैनधर्म का प्राबल्य रहा है। अशोक के समय यह देश महिषमंडल के नाम से प्रसिद्ध था।

मोट्टेनविले ग्राम—५३, ५६। सवतिगंधवारण नामक मंदिर को यह ग्राम भेंट किया गया था।

मोनेगनकट्टे ग्राम—४९६। गङ्गवाडि में था, जहाँ रामदेवविभु ने एक विशाल जिनालय निर्माण कराया था।

मोरयूर ग्राम—४०८। दक्षिण का एक ग्राम।

मोरिङ्गेरे—५१। एक तीर्थ समझा जाता था। शक १०४१ में बक्कण ने यहाँ शरीर त्याग किया था।

मोसले ग्राम—८६, ८७ व ३६१; जैनधर्म का केन्द्र था।

यगलिय—८९; यहाँ के कब्बिसेट्टि ने दान दिया था।

रावनहल्लि—८३; मैसूर-नरेश कृष्णराज ओडेयर ने यह ग्राम गोम्मटदेव को भेंट किया था।

रायरायपुर—५३, १२४ व १३७; होय्सल काल का एक दुर्ग।

लंकापुरी—१०९; चामुंडराय के लेख में इसका उल्लेख है।

लाडदेश—१२४, १३० व ४९१; होय्सल नरेशों ने इस देश को भी जीता था। यह गुजरात का एक भाग था।

वनवासि राज्य—३८ व १३८; होय्सलनरेश ने इसपर भी अधिकार किया था। यह वर्तमान शिवमोग्ग जिला था। कादम्ब राजाओं का मुख्य स्थान था।

वल्लूरग्राम—१३८; दंडाधिप हुल्ल के दान का एक ग्राम।

वस्तियग्राम—८३; कृष्णराज ओडेयर ने गोम्मटेश्वर को यह ग्राम भेंट किया था।

वाराणसी—१३३, १४० व ४८६। वर्तमान बनारस है। लेखों में यह अपनी पवित्रता के लिये प्रसिद्ध रहा है। यहीं पर तीर्थङ्कर सुपार्श्व और पार्श्व का जन्म हुआ था। चीनी यात्री ह्युन्त्सांग ने इस राज्य को ६६७ मील में विस्तृत लिखा है। इसकी राजधानी, बनारस, तीन मील लम्बी व १ मील चौड़ाई में बसी हुई थी। यह नगर बर्ना व असी नाला के बीच में अवस्थित होने के कारण बानारसी (बनारस) कहलाता है। यह संस्कृत विद्या का केन्द्र रहा है।

विन्ध्यगिरि ३८; श्रवणबेल्गोल के बड़े पर्वत का नाम; जिसपर गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति स्थित है।

विशाला—१, इस लेख में भ० महावीर के प्रसग में इस शब्द का प्रयोग हुआ है; इसलिये यह वैशाली (विशाला) होना चाहिये। कुण्डग्राम उसके निकट अवस्थित था। लेख में इस प्रकार उल्लेख है:—

'तदनु श्री-विशालयम् (लायाम्) जयत्वद्य जगद्धितम्।
तस्य शासनमद्याजं प्रवादि-मत-शासनम् ॥४॥'

वेगूर—१५३; यहाँ के सर्वज्ञ भट्टारक प्रसिद्ध थे।

वेल्गोल—१७-१८; श्रवणबेल्गोल का अपर नाम है।

वेल्माद ग्राम—७; कित्तूर में यह ग्राम था और यहाँ के धर्मसेन व बलदेव गुरु प्रसिद्ध थे।

वैदिश नगर—५४; श्री समन्तभद्राचार्य जो ने यहाँ भी वादभेरी बजाई थी।

शशपुर=अंगडि ग्राम—५६, ४५९; होयसल राजवंश का मूलस्थान यही था। यहीं पर विनयादित्य राजा राज्याधिकारी थे। यहाँ वासन्तिकादेवी प्रसिद्ध थीं; जो होयसल राजवंश की कुलदेवता थीं। यह सोसेवुर (शशकपुर) मैसूर स्टेट के कडूर नामक जिले के मूडुगेरे तालुक में अंगडि ग्राम बताया जाता है (Ep. Car., VI, Intro. p. 14)। दशवीं शताब्दि में यह स्थान जैनधर्म का गढ़ था। यहाँ पर वासन्तिका देवी के मंदिर से भी प्राचीन जैनमंदिर थे और जैनगुरुओं की परम्परा भी यहाँ थी। उनमें द्राविड संघी कोंडकुन्दान्वयी पुस्तकगच्छी मौनी भट्टारक के शिष्य और श्रीमान् इरिव बेडेग के गुरु विमलचंद्र पंडितदेव ने यहाँ समाधिमरण किया था। इरिव बेडेग पश्चिम चालुक्य नरेश सत्याश्रय (९९७—१०९ ई०) के सामन्त थे। दशवीं शताब्दि के अंतिम पाद में यहाँ सुदत्त नामक मुनिराज रहते थे। एक दिन होयसल सरदार अपने कुलदेवता की पूजा करने गए और वहाँ इन्हीं जैनगुरु से धर्मोपदेश सुनने लगे। इतने में एक भयंकर सिंह वन में से आ धमका। जैनगुरु ने सरदार से कहा—'मारो, सल!' (पोय् सल!) इसपर सल ने सिंह को मार भगाया। जैनगुरु के 'पोयसल' कहने से वह सरदार उसी नाम से प्रसिद्ध हो गया और उसकी सन्तान भी 'पोयसल' कहलाई, जो उपरान्त 'होयसल' भी कहलाने लगी थी।

श्रवणबेल्गुल ४३३—४३४; इसी नाम की पुस्तक में विस्तृत विवेचना पढ़ना चाहिये, जिसे मैसूर-सरकार ने प्रकाशित किया है।

शिवगंगे—५३ यहाँ शान्तला देवी ने शरीर-त्याग किया।

सत्यमंगल ग्राम—९८; यहाँ के देवराज की मृत्यु गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के दिवस (१७४८ शाके में) हुई थी। वह मैसूर नरेश श्रीकृष्ण ओडेयर के अंगरक्षक थे।

सल्य—५९, ४९३ व ४९५। श्रवणबेल्गोल के पास एक ग्राम, जिसे होय्सल नरेशों ने दान किया था।

सवणेरू—८०, ९०, १३७, १३८ व ३६१। महाप्रधान हुल्ल ने नरसिंह नृप से इस ग्राम को प्राप्त करके गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए दान किया था।

सागर ग्राम—१२४ श्रवणबेल्गोल के आसपास था।

सिंधुदेश—५४; श्री समन्तभद्राचार्य ने यहाँ भी वादभेरी बजाई थी। यह वर्तमान का सिंध प्रांत हो सकता है; परंतु प्राचीनकाल में उज्जैन के पास का प्रदेश भी सिंधु कहलाता था। इन दोनों में से कहीं पर आचार्य श्री ने वादभेरी बजाई थी। भ० महावीर के समय में सिंधु-सौवीर के सम्राट् उदयन अपने सम्यक्त्व के लिये प्रसिद्ध थे।

सिंहल देश—५५; यहाँ के नरेश से श्री यशःकीर्ति मुनिराज ने सम्मान पाया था। वर्तमान का सीलोन (लंका) सिंहल देश माना जाता है। यहाँ अनुराधापुर में बहुत पहले से निर्ग्रन्थ मुनियों का आवास था—वे निर्ग्रन्थ राजमान्य थे।

सेवुण नगर—४९९; होय्सल नरेश सोमेश्वर ने यहाँ के राजा को नष्ट किया था।

सोमनाथपुर—११७; कोननाडु (?) में था।

हलसूर—९५; यहाँ के केतिसेट्टि ने गोम्मटेश के नित्याभिषेक के लिए दान दिया था।

हाडुवरहल्लि—१३७; यहाँ के शंभुदेव ने दान दिया था।

हाडोनहल्लि—१०७; बेक्क ग्राम का सीमान्तक ग्राम।

हिरिसालि ग्रा०—१२१; विंध्यगिरि पर ब्रह्मदेव मंदिर यहाँ के गिरिगौड के कनिष्ठ भ्राता रङ्गय्य ने निर्माण कराया था।

हुलिगेरे—१३१; यहाँ के सोवण्ण नामक महानुभाव ने नगर जिनालय के आदिदेव के नित्याभिषेक के लिए दान दिया।

हुल्लघट्ट ग्राम—१२४; बेक्क की सीमा का ग्राम।

हेज्जेरु ग्राम—५३; श्रवणबेल्गोल के आस-पास था।

होन्नेनहल्लि ग्रा०—१०७; बेक्क ग्राम की सीमा पर था।

होसपट्टण ग्राम—१३६; बुक्कराय ने जिन जैनियों को बुलाया था, उनमें यहाँ के जैनी भी थे।

होसहल्लि ग्राम—८३, ८४ व ४३४। कृष्णराज ओडेयर की सनद में इसका उल्लेख है।

वैदिक एवं जैनधर्म में समानरूप से या कुछ हेरफेर से पाये जानेवाले कतिपय पद्य—

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ (जैन)
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जनार्दन ॥ (वैदिक)
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥ (जैन)
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥ (वैदिक)
आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम् ।
ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥ (जैन)
यान्तु देवगणाः सर्वे पूजामादाय मामकीम् ।
इष्टकामार्थसिद्ध्यर्थं पुनरागमनाय च ॥ (वैदिक)
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ (जैन)
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन ।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥ (वैदिक)
अज्ञानतिमिरांधस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ (जैन)
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ (वैदिक)
हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वानामिकामूलपर्वणि ।
अङ्गुष्ठं निक्षिपेत्सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृता ॥
अधोमुखीयमेवस्यात्स्थापनी मुद्रिका तथा ।
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योस्तु संयोगात्सन्निधापनी ॥ (जैन)
हस्ताभ्यामञ्जलीं कृत्वाऽनामिकामूलपर्व्वणोः ।
अङ्गुष्ठौ निःक्षिपेत् सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृता ॥
अधोमुखी त्वियं चेत् स्यात् स्थापनी मुद्रिका स्मृता ॥
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योश्च संयोगात् सन्निधापनी । (वैदिक)

(क्रमशः)

—के० भुजबली शास्त्री

तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)

[ले०—श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम०ए०]

(क्रमागत)

२ आक्षेप—वृत्ति शब्द का वाच्य भाष्य भी हो सकता है, और वह स्वयं राजवार्त्तिक भाष्य है, जो अकलंक 'वृत्ति' शब्द से कहना चाहते हैं। राजवार्त्तिक (पृ० १९१) में 'आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्त्तिक भाष्य में 'स्यान्मतं धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां' शब्दों द्वारा द्रव्यों की संख्या का पाँच से निर्देश किया है।

२ उत्तर—पूर्व लेख में बताया जा चुका है कि राजवार्त्तिक का उल्लेख कहीं भी 'वृत्ति' नाम से नहीं मिलता, अतएव वृत्ति का वाच्य यहाँ राजवार्त्तिक भाष्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' वाली वार्त्तिक में 'वृत्तौ उक्तम्' कह कर "अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" रूप से जो पाठ दिया है, वह 'आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्त्तिकगत "स्यान्मतं धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां" आदि पाठ से शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। यह बात पूर्व लेख में बताई जा चुकी है। 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि गत शब्दों से तो अकलंक ऐसी वृत्ति का निर्देश करना चाहते हैं जहाँ धर्मादि पाँच ही द्रव्यों के माने जाने का उल्लेख हो, तथा 'आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्त्तिकगत पाठ द्वारा वे बतलाना चाहते हैं कि "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" सूत्र में सर्वप्रथम 'आकाश' का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वह धर्मादि द्रव्यों का आधारभूत है। 'धर्मादीनां पंचनामपि द्रव्याणां' रूप से पाँच द्रव्यों का प्रसंगवश कथन किया है। अकलंकदेव को यहाँ केवल पाँच द्रव्य और आकाश का आधार-आधेय भाव विवक्षित है, इससे वे द्रव्य की इयत्ता आदि के विषय में कुछ नहीं कहना चाहते। अतएव उक्त वाक्यों की परस्पर संबद्धता किसी भी हालत में नहीं बैठायी जा सकती। अतः 'वृत्ति' का लक्ष्य भाष्य भी नहीं हो सकता।

३ आक्षेप—राजवार्त्तिकगत 'वृत्ति' शब्द का वाच्य उमास्वातीय स्वोपज्ञ भाष्य इसलिये नहीं हो सकता कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उस भाष्य की वृत्ति शब्द से प्रख्याति नहीं। दूसरी बात राजवार्त्तिकगत "अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" वाक्य, तत्त्वार्थभाष्यगत "अवस्थितानि च। न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति"—वाक्यों से भिन्न पड़ते हैं, क्योंकि राजवार्त्तिककार ने समस्त एक ही वाक्य दिया है, जब कि भाष्य में 'अवस्थितानि च' और 'न हि कदाचित्' आदि रूप से दो वाक्य हैं। तीसरी बात, हो सकता है कि प्रस्तुत श्वेताम्बर भाष्य की रचना राजवार्त्तिक के बाद हुई हो, और भाष्यकार ने वह

पंचत्वविषयक वाक्य राजवार्त्तिक से कुछ परिवर्त्तन के साथ ले लिया हो, अथवा दोनों ग्रन्थों में उक्त वाक्य की रचना एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर बिल्कुल स्वतंत्र हुई हो।

३ उत्तर—लेखांक (३) में हरिभद्र और सिद्धसेन की टीकाओं से उद्धृत करके ऐसे वाक्य बताये जा चुके हैं, जहाँ तत्त्वार्थभाष्य को वृत्ति कहा गया है (देखो पृ० १६३)। सिद्धसेन और हरिभद्र ने अनेक स्थलों पर भाष्य को 'वृत्ति' नाम से लिखा है। अतएव यह कहना कि भाष्य की प्रसिद्धि वृत्ति से नहीं थी, भ्रममूलक है। दूसरी शंका में ऊपर जो एक वाक्य और दो वाक्य का भेद बताकर राजवार्त्तिकगत और तत्त्वार्थभाष्यगत पाठों का भिन्नत्व बताने का प्रयत्न है, वह भी निर्मूल है। वास्तव में देखा जाय तो दोनों ग्रन्थों में एक ही वाक्य है, क्योंकि दोनों जगह 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत 'अवस्थितानि' शब्द की व्याख्या अभिप्रेत है। सम्पादन की दृष्टि से ग्रन्थ में स्पष्टबोध करने के लिये ये वाक्य निम्न प्रकार से होने चाहिये थे :

(अ) अवस्थितानि च—न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति (तत्त्वार्थभाष्य) [यहाँ 'अवस्थितानि च' इस पद में 'च' इसलिये आता है कि ग्रन्थकार 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत समास बता रहे हैं कि नित्यानि च अवस्थितानि च अरूपाणि च]।

(आ) अवस्थितानि—धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति (राजवार्तिक)— [यहाँ राजवार्त्तिककार भी अवस्थितानि पद का खुलासा कर रहे हैं]।

अतः उक्त कथन ठीक नहीं।

उक्त दोनों पाठ बिलकुल अक्षरशः क्यों नहीं मिलते, इसका कारण प्रति-लेखक या सम्पादक की स्खलना भी हो सकती है। अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों में 'उक्तं च' रूप में दिये हुए पाठ उन ग्रन्थों के मूल पाठों से कुछ भिन्न पड़ते हैं।* अर्हत्प्रवचनहृदय और अर्हत्प्रवचन की एकता बताने के लिये आपने भी यह युक्ति दी है। श्रीमद्राजचन्द्र गुजराती संस्करण में अन्य ग्रन्थों के ऐसे अनेक अशुद्ध पाठ दिये हैं, जो उन ग्रन्थों में अक्षरशः नहीं पाये जाते। अतएव एकाध शब्दमात्र के हेरफेर होने से राजवार्त्तिक और भाष्य के उद्धरणों

---

* वात्स्यायन आचार्य ने स्मृति का (स्मृतितः) एक श्लोक निम्न प्रकार से उद्धृत किया है—

वत्सः पुस्तवने मेध्यः श्वा मृगग्रहणे शुचिः। शकुनिः फलपाते तु स्त्रीमुखं रतिसंगमे॥ (पृ० १४७)

यही श्लोक बोधायन में निम्नरूप से है—

वत्सः पुस्तवने मेध्यः शकुनिः फलशातने। स्त्रियश्च रतिसंसर्गे श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥

मनुसंहिता में यही श्लोक—

नित्यमास्यं शुचिः स्त्रीणां शकुनिः फलपातने। प्रस्रवे वा शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥

वशिष्ठधर्मसूत्र और विष्णुस्मृति में भी यही श्लोक साधारण हेरफेर से दिया है।

को सर्वथा भिन्न बताकर वृत्ति का कुछ दूसरा अर्थ करना ठीक नहीं। तीसरी बात तत्त्वार्थ-भाष्य और राजवार्त्तिक की रचना के विषय में कही गई है। वास्तव में यदि 'तत्त्वार्थभाष्य की रचना राजवार्त्तिक पर से की गई है' एतद्विषयक और कोई प्रबल युक्ति दे सकते, तो इस चर्चा का यहीं अन्त हो जाता, और 'वृत्ति' आदि शब्दों की खींचातानी में जो आपको और अनेकांत-सम्पादक को अर्थहीन इतना घोर परिश्रम करना पड़ा है, वह न करना पड़ता। परन्तु ऐसी कोई युक्ति तो नहीं दी गई, केवल इस बात की संभावना व्यक्त की गई है। अकलंक के प्रायः समकालीन हरिभद्र और सिद्धसेन आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने तत्त्वार्थभाष्य के ऊपर टीकायें लिखी हैं। यदि भाष्य, राजवर्त्तिक के ऊपर से लेकर बनाया गया होता, तो क्या उन्हें इस बात की ख़बर नहीं होती? तथा भाष्य के अन्त में भाष्यकार ने जो प्रशस्ति दी है, उसके विषय में सम्पादकजी क्या कहते हैं? यदि विना किसी प्रमाण के उक्त प्रशस्ति को जाली बताया जाय तो इस तरह तो प्रत्येक ग्रन्थ की प्रशस्ति जाली कही जा सकती है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में आजतक कोई ऐसी मिसाल नहीं कि किसी प्राचीन प्रतिष्ठित आचार्य के नाम पर किसी व्यक्ति ने किसी ग्रन्थ के ऊपर बनावटी भाष्य लिखा हो, और जिस ग्रन्थ के ऊपर भाष्य बनाया गया हो, उसके कर्त्ता के समकालीन विद्वानों ने उस भाष्य को प्रामाणिक मानकर उसपर टीका-टिप्पणियाँ लिखी हों! ऐसा करना तो एक बड़ी भारी साहित्य की डकैती मानी जायगी, और ऐसी डकैती लोगों पर प्रकट हुए विना कभी नहीं रह सकती। इस डकैती का कम से कम दिगम्बर विद्वान् तो उल्लेख किये विना कभी न रहते। तथा यदि भाष्यकार को राजवार्त्तिक से कुछ लेना ही था, तो उन्होंने 'वृत्तौ उक्तं' कहकर जो राजवार्त्तिकगत वाक्य हैं, उन्हींको क्यों लिया? इसमें तो उनकी बड़ी अबुद्धिमानी प्रकट होती है। तथा यदि उक्त दोनों वाक्यों को परस्परानपेक्ष स्वतंत्र रचना मानी जाय तो 'वृत्तौ उक्तं' वाले वाक्य ही दोनों विद्वानों ने एक-से कैसे लिखे? इसे तो एक आकस्मिक घटना ही समझनी चाहिये। अतः 'वृत्ति' शब्द का वाच्य तत्त्वार्थभाष्य नहीं हो सकता, यह बताने के लिये जो दलीलें दी गई हैं, उन सबका निरसन हो जाता है।

(४) भाष्य

आक्षेप—(क) राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' शब्द का वाच्य सर्वार्थसिद्धि है, श्वेताम्बरभाष्य नहीं। भाष्य का अर्थ है स्वमत (सूत्रमत) स्थापन और परमत (शंकाकृतमत) का खण्डन। सर्वार्थसिद्धि में यह बात श्वेताम्बरीय भाष्य की अपेक्षा विस्तार से पाई जाती है। इस ग्रन्थ में सूत्रार्थ, न्याययुक्त समालोचना, और अपने मतानुसार तात्पर्य बताना आदि भाष्य में पाई

जानेवाली सर्व अर्थ को सिद्धि मौजूद है। अकलंक की कृति से (राजवार्त्तिक अध्याय ५, सूत्र १, ४) स्पष्ट है कि भाष्य और वृत्ति पर्यायवाची हैं। यदि वृत्ति और भाष्य का पर्यायवाची न माना जाय, तो श्वेताम्बरीय भाष्य के लिये भी वृत्ति शब्द का प्रयोग नहीं बन सकता। अतः अकलंक को 'भाष्य' शब्द से सर्वार्थसिद्धि अभिप्रेत है।

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि वृत्ति को वृत्ति न कहकर अपने मन से उसे भाष्य बना देना यह बड़ी विचित्र बात है। अद्यावधि उपलब्ध किसी भी जैनग्रंथ में सर्वार्थसिद्धि का उल्लेख भाष्यरूप से नहीं मिलता; पूज्यपाद ने उसे 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम से ही कहा है। फिर न मालूम सर्वार्थसिद्धि को भाष्य सिद्ध करने के लिये इतना जबर्दस्त प्रयत्न क्यों किया जा रहा है। स्वयं अनेकांत के सम्पादक भी राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य सर्वार्थसिद्धि स्वीकार नहीं करते। पूर्व लेख में कहा जा चुका है कि यदि स्वमत-स्थापन और परमत-खण्डन-विधायकत्व को ही भाष्य की परिभाषा मानी जाय, तो फिर न्याय और दर्शन के समस्त ग्रन्थों को भाष्य ही मानना पड़ेगा। फिर तो न्यायभाष्य, न्यायवार्त्तिक, न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, स्याद्वादरत्नावतारिका, प्रमाणमीमांसा आदि सब ग्रन्थों को भाष्य ही कहना चाहिये। इन सभी ग्रन्थों में 'सूत्रार्थ, न्याययुक्त समालोचना और अपने मतानुसार तात्पर्य बताना आदि भाष्य में पाई जानेवाली' बातें मौजूद हैं। तथा स्वमतस्थापन और परमतखंडनरूप भाष्य का लक्षण सर्वार्थसिद्धि में ही घटित होता है, विवादास्पद श्वेताम्बरीय भाष्य में नहीं, यह तो कुछ बताया नहीं गया जिससे श्वेताम्बरीय भाष्य के भाष्यत्व से व्यावृत्ति हो सके। वास्तव में वृत्ति और भाष्य को अभिन्न मानना बड़ा भारी भ्रम है। कोशकारों ने सूत्र, वृत्ति, वार्त्तिक, भाष्य आदि के भिन्न-भिन्न लक्षण किये हैं। स्वयं लेखक ने मेरे पूर्व लेख में उद्धृत हेमचन्द्र और बालगंगाधर तिलक की टीका और भाष्य की व्याख्याओं को स्वीकार करते हुए, "वस्तुतः टीकाओं में तो और-और विषय-संबंधी प्रपंच रहते हैं, परन्तु भाष्य में उन प्रपंचों के साथ यह स्वमत-स्थापन और परमतखण्डन-संबधी प्रपंच विशेष रहता है।" इन शब्दों द्वारा भाष्य और वृत्ति (टीका) के भेद को स्पष्ट माना है। अकलंक सर्वार्थसिद्धि वृत्ति आदि वृत्ति-ग्रन्थों के आधार से अपना तत्त्वार्थराजवार्त्तिक नामक वार्त्तिक लिखकर उसपर तत्त्वार्थराजवार्त्तिक भाष्य लिख रहे हैं, फिर सर्वार्थसिद्धि को भाष्य कैसे कहा जा सकता है? उसे तो वृत्ति मानकर उसपर अकलंक का वार्त्तिक बना है। श्वेताम्बरीय भाष्य का वृत्ति और भाष्य दोनों नाम से क्यों उल्लेख किया गया है, इसका उत्तर यह है कि हरिभद्र और सिद्धसेनगणि ने उक्त भाष्य को वृत्ति और भाष्य लिखा है; यह कुछ मेरी कल्पना नहीं। संभव है, तत्त्वार्थसूत्र पर प्रथम विवेचन होने के कारण विद्वान् उमास्वातीय भाष्य को स्वतो और वृत्ति दोनों नामों से कहने लगे हों। लेकिन इससे भाष्य और

वृत्ति का अभिन्नत्व तो कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अकलंक ने राजवार्त्तिक (अध्याय, ५ सूत्र १, ४) में वृत्ति और भाष्य को पर्यायवाची माना है, यह कथन मनोनीत होने के कारण अत्यन्त अनर्थकारक है। राजवार्त्तिककार ने कहीं ऐसा प्रतिपादित नहीं किया। उक्त प्रकरण में वृत्ति का अर्थ 'समास' है, सूत्ररचना अथवा 'टीका' आदि नहीं, यह बात पहले सप्रमाण सिद्ध की जा चुकी है। अतः राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि किसी हालत में नहीं मानी जा सकती।

आक्षेप - (ख) राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य स्वयं अकलंक का राजवार्त्तिक भाष्य भी हो सकता है; इस भाष्य में षट्द्रव्य का विषय स्पष्टरूप से प्रतिपादित है। अकलंकदेव ने 'भाष्ये' के स्थान पर उक्त प्रसंग पर 'पूर्वत्र' क्यों नहीं लिखा? तो इसका प्रत्युत्तर है कि अकलंकदेव ने 'श्वेताम्बरभाष्ये' या 'तत्त्वार्थभाष्ये' न लिखकर कोरा 'भाष्ये' ही क्यों लिखा? यदि वहाँ अकलंक केवल 'पूर्वत्र' शब्द ही लिख देते तो कदाचित् उससे उनके भाष्य का तो बोध हो सकता था; परन्तु सर्वार्थसिद्धि भाष्य का बोध नहीं हो सकता था। तथा यदि उन्हें दोनों ही भाष्य अभिप्रेत हों, तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक इन दोनों का निर्वाह 'पूवत्र' शब्द से कैसे किया जा सकता था? अकलंक कर्नाटक के थे जो सौराष्ट्र-कच्छ से दूर पड़ता है, अतः उनके सामने तत्त्वार्थभाष्य का रहना संभावित नहीं।

उत्तर—पूर्व लेख में कहा गया था कि यदि लेखक जैन अथवा जैनेतर साहित्य में कहीं एक भी ऐसा उदाहरण बता दें जहाँ ग्रन्थकर्त्ता ने स्वकीय भाष्य, वृत्ति या टीकागत पूर्व अथवा उत्तर कथन को सूचित करने के लिये पूर्वत्र, अग्रे, प्राक्, परम्, पुरस्तात् आदि शब्दों का प्रयोग न कर, केवल 'भाष्ये', 'वृत्तौ' या 'टीकायां' जैसे पदों का उल्लेख किया हो, तो कदाचित् उनकी इष्टसिद्धि हो सकती है, परन्तु ऐसा करने में वे सर्वथा असमर्थ रहे हैं, फिर यह कैसे मान लिया जाय कि राजवार्त्तिकगत 'भाष्ये' पद स्वयं राजवार्त्तिक भाष्य का द्योतक है। नीचे हम विविध ग्रन्थों के ऐसे उदाहरण उपस्थित करते हैं, जहाँ किसी शंकाविषयक समाधान को सूचित करने के लिये ग्रन्थकार ने स्वकीय ग्रन्थ को 'भाष्ये', 'वृत्तौ' आदि रूप से उल्लिखित न कर पूर्वत्र, उत्तरत्र आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है—

(क) उत्तरत्र च तस्यास्तित्वं वक्ष्यते—राजवार्त्तिक पृ० २०५ (यहाँ अणु-संबंधी शंका चल रही है, जिसका समाधान पृ० २३५ पर किया गया है।

(ख) प्रसाधितं च अवयविद्रव्यं आत्मद्रव्यं च प्राक्—न्यायकुमुदचन्द्र, ३०७।

(ग) प्रागेव अपास्तम् (वही, ३३६)

(घ) प्रपंचतस्तु पक्षादिशुद्धिपंचकस्वरूपम् परमवसेयम्—स्याद्वादरत्नाकर, ५६५।

(ङ) उपरिष्टान्निवेदयिष्यामः—व्यासभाष्य, पृ० ३।

(च) तत्पुरस्तद्दर्शितम्—शांकरभाष्य, ४२०।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त उदाहरणों में स्वग्रन्थ-संबंधी वक्तव्य को सूचित करने के लिये कहीं भी 'भाष्ये' 'वृत्तौ' आदि पद का प्रयोग नहीं। तथा यहाँ कहीं भी यह शंका नहीं होती कि अमुक बात सूत्र में, वार्त्तिक में अथवा टीका में है। प्रत्युत यदि ग्रन्थकार स्वकीय ग्रन्थ में 'भाष्ये' आदि नामों का व्यवहार करता है, तो समझना चाहिये कि वह ग्रन्थ उसके स्वकीय ग्रन्थ से भिन्न है। उदाहरण के लिये :

(क) अवदाम स्तुतौ—प्रमाणमीमांसा, पृ० २३।

(ख) प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपंचं प्रपंचितम्—न्यायकुमुदचन्द्र, ३३९।

यहाँ स्तुति (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका) नामक ग्रन्थ हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा से, तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र से भिन्न है। अतएव लेखक ने जो राजवार्त्तिकगत "ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं" आदि पंक्ति का स्वकीय भाष्य करते हुए 'व्याख्यातं' शब्द को भाष्य का बोधक बताकर अपनी इष्टसिद्धि करने का प्रयत्न किया है, वह निरर्थक है। तथा अस्माभिः प्रोक्तं', 'पूर्वत्र प्रोक्तं' आदि शंकराचार्य के वचनों को केवल उनकी अनुस्मृति-सूचक बताना, यह उनके ग्रन्थों के संबंध में अनभिज्ञता द्योतित करता है। ऊपर जो पूर्वत्र आदि शब्दों के उल्लेखपूर्वक उदाहरण उपस्थित किये गये हैं, क्या वे भी ग्रन्थकार की अनुस्मृति की ही सूचना देते हैं ? इसके अतिरिक्त, पहले दो लेखों में बताया जा चुका है कि राजवार्त्तिक और सर्वार्थसिद्धि में षटद्रव्यों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, अतःउक्त दोनों ग्रन्थ 'भाष्य' शब्द के वाच्य नहीं हो सकते। राजवार्त्तिक में कालविषयक चर्चा किसी ऐसे भाष्य को लक्ष्य में रखकर उठाई गई है, जहाँ काल की मान्यता के विषय में कुछ मतभेद हो। अतएव राजवार्त्तिक में षट्द्रव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन होना प्रतिवादी के लिये ही अनिष्टापति हो सकती है। अकलंक ने उमास्वातीय भाष्य का 'श्वेताम्बरीय भाष्य' या 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' रूप से क्यों उल्लेख नहीं किया ? इसका उत्तर है कि इस ग्रंथ का श्वेताम्बरीय भाष्य' कहीं नाम ही नहीं ? यह नाम तो आपका दिया हुआ है। इसी तरह कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर विद्वानों ने समन्तभद्र आदि दिगम्बर विद्वानों ने समन्तभद्र आदि दिगम्बर विद्वानों के ग्रन्थों का उल्लेख 'दिगम्बरीय आप्तमीमांसा' आदि रूप से न करके केवल 'आप्तमीमांसा' रूप से ही क्यों किया ? लेखांक (३) में बताया जा चुका है कि तत्त्वार्थभाष्य केवल 'भाष्य' नाम से भी प्रसिद्ध था और उमास्वाति भाष्यकार नाम से कहे जाते थे। अतएव 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये' न लिखकर अकलंक ने 'भाष्ये' ही लिखा।

यह बड़ी अद्भुत दलील है कि अकलंक कर्नाटक के थे और भाष्यकार सौराष्ट्रकच्छ[१] के,

---

१ भाष्यकार ने सौराष्ट्र-कच्छ में रहकर तत्त्वार्थभाष्य की रचना की। यह उल्लेख न मालूम लेखक महोदय को कहाँ मिल गया ! तत्त्वार्थभाष्य के अन्त में जो प्रशस्ति है उसमें स्पष्ट लिखा है कि कुसुमपुर

अतः अकलंक के सामने भाष्य नहीं हो सकता। इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि कोई ग्रन्थ कर्नाटक में लिखा गया है तो वह सदा कर्नाटक में ही रहेगा और जो सौराष्ट्र में लिखा गया है वह सौराष्ट्र में ही पड़ा रहेगा। लेखक महोदय को शायद मालूम नहीं कि प्राचीन काल में रेल, डाक आदि का सुभीता न होने पर भी कितनी शीघ्रता से साहित्य का आदान-प्रदान होता था। तथा यदि कर्नाटक देशीय अकलंक के समक्ष सौराष्ट्र कच्छदेशीय (?) भाष्यकार के प्रस्तुत भाष्य का रहना संभावित नहीं तो फिर भाष्यकार के समक्ष राजवार्त्तिक रहने की संभावना कैसे हो सकती है, जिससे यह कहा जाता है कि भाष्यकार ने राजवार्तिक के आधार से भाष्य बना डाला! वस्तुत बात यह है कि राजवार्त्तिक में जिस भाष्य का उल्लेख है, उसका वास्तविक लक्ष्य क्या है, इस विषय में स्वयं लेखक सशंक हैं, इसीलिये कभी वे उसका लक्ष्य सर्वार्थसिद्धि भाष्य बनाते हैं, कभी राजवार्त्तिक भाष्य का नाम लेते हैं, कभी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक दोनों को 'भाष्य' का वाच्य कहते हैं, और कभी उनका ध्यान किसी पुरातन अनुपलब्ध दिगम्बर भाष्य की ओर आकृष्ट होता है। लेकिन ये सभी कल्पनायें निर्मूल हैं। समझ में नहीं आता कि 'भाष्ये' इस सप्तम्यंत एकवचन पद से एक साथ सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक इन दो भाष्यों का बोध कैसे हो जायगा! उक्तार्थ सूचना के लिये 'भाष्ययोः' पद का होना जरूरी है। यदि अकलंक को 'भाष्य' पद से कोई पुराना भाष्य ही अभिप्रेत है, तो उसको सप्रमाण बताना चाहिये, तथा फिर उसकी संगति सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिकभाष्य के साथ बैठाकर क्यों समय नष्ट किया जाता है?

(ग) तत्त्वार्थ भाष्यकार के मत से पाँच ही द्रव्य हैं, छः नहीं। यही सूचन करने के लिये सिद्धसेन गणि ने 'वाचकमुख्यस्य तु पंचैव' यह वाक्य अपनी टीका में लिखा है। 'सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्' इस तत्त्वार्थ भाष्य वाक्य से भी षट् द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं होती। उक्त वाक्य में जो 'षड्द्रव्यावरोधात्' हेतु दिया है वह जैनेतरवादी की नय संबंधी शंका का निराकरण करने के लिये दिया है। भाष्यकार एकीयमत से काल द्रव्य को मानते हैं और उस एकीयमत मानने का लाभ उन्होंने इस स्थल पर पहले ही ले लिया है। प्रशम-रतिगत षट् द्रव्य के उल्लेख से भी तत्त्वार्थ भाष्यकार द्वारा षट् द्रव्य मान्यता-सूचक कथन सिद्ध नहीं होता। 'कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च' इस तत्त्वार्थ भाष्य वाक्य में काल द्रव्य का स्पष्ट निषेध ही है।

उत्तर—लेखांक ३ (पृष्ठ १६६—१७०) में सिद्धसेन गणि के 'वाचकमुख्यस्य तु पंचैव' वाले उल्लेख की विस्तार चर्चा करते हुए यह सिद्ध कर दिया गया है कि भाष्यकार निर्विवाद (पाटलिपुत्र) में बिहार करते हुए तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र की रचना की गई। सम्पादक—अनेकांत का भी इस पर कोई नोट नहीं। न मालूम फिर व्यर्थ ही 'पर-उद्धार' करने की चिंता इन लोगों को क्यों सताये रहती है?
—लेखक

रूप से छः द्रव्यों को स्वीकार करते हैं, फिर न मालूम प्रतिपक्षी की युक्तियों का निरसन किये विना ही अपनी एक ही बात की पुनः पुनः क्यों आवृत्ति की जाती है! उक्त लेख में विस्तार से दी हुई युक्तियों का सारांश यहाँ फिर से दिया जाता है :—

(अ) 'वर्त्तना परिणामक्रिया' आदि तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य की टीका में सिद्धसेन गणि लिखते हैं—"जब कालद्रव्य धर्मादि से भिन्न है तो उसे अवश्य उपकारी होना चाहिये। और काल का अस्तित्व माना गया है, तो फिर उसका क्या उपकार है? उसका उपकार है वर्त्तना परिणाम आदि; वर्त्तना इत्यादि काल का अविनाभूत लिंग है। पहले जो सूत्रकार (भाष्यकार) ने उसका कथन नहीं किया, वह केवल अस्तिकाय का प्रतिषेध करने के लिये नहीं किया।"

(आ) 'कालश्चेत्येके' सूत्र की टीका में सिद्धसेन गणि ने स्पष्ट लिखा है—"कालश्च द्रव्यं षष्ठं भवति"। यहाँ काल द्रव्य को पृथक् सिद्ध करने के लिये सिद्धसेन ने आगम का प्रमाण देते हुए काल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि की है। 'कालश्चेत्येके' सूत्र और उसके भाष्य का अर्थ करते हुए सिद्धसेन ने स्पष्ट लिखा है "काल कदाचित् किसी के मत धर्मादि पंचास्तिकायों में गर्भित होता है और कदाचित् वह धर्मादि के समान स्वतंत्र द्रव्य है।" "एक नय की अपेक्षा काल अन्य द्रव्यों से भिन्न है (दूसरे नय की अपेक्षा नहीं)। जैन प्रवचन में किसी एक नय की अपेक्षा समस्त वस्तु-स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता।" 'इत्येके' पद का अर्थ करते हुए सिद्धसेन लिखते हैं—"इत्येके इत्थमाचक्षतेऽन्ये त्वन्यथेति" अर्थात् कोई लोग काल को अलग मानते हैं कोई नहीं। अतः 'कालश्चेत्येके' सूत्र का यह आशय कदापि नहीं कि उमास्वाति काल को अलग द्रव्य नहीं मानते। उक्त सूत्र की या उसके भाष्य की टीका में सिद्धसेन ने यह कहीं नहीं बताया कि उमास्वाति काल को भिन्न नहीं मानते, अथवा वे उसे जीवाजीव की पर्याय कहते हैं। उक्त सूत्र से उमास्वाति, काल द्रव्य-संबंधी पूर्वाचार्यों के मतभेद को ही व्यक्त करना चाहते हैं और इसी का समर्थन सिद्धसेन गणि ने किया है।

(इ) तीसरे अध्याय की भाष्य-टीका में प्रशमरति को उमास्वातिकृत ग्रन्थ मानकर सिद्धसेन गणि ने प्रशमरति के एक श्लोक को उद्धृत किया है, जिसमें 'जीवाजीवौ द्रव्यमिति षड्विधं' रूप से छह द्रव्यों का कथन है।"

यदि सिद्धसेन के अनुसार उमास्वाति पाँच द्रव्य ही मानते हैं तो फिर उनके पूर्वोक्त सब उल्लेख व्यर्थ पड़ते हैं। अतएव, जैसे लेखांक (३) में बताया गया है, सिद्धसेन के "वाचक-मुख्यस्य तु पंचैव" वाले उल्लेख को भ्रमभूलक मानना चाहिये। यह उल्लेख सिद्धसेन का अंतिम उल्लेख भी नहीं। काल-द्रव्य-सम्बन्धी अन्तिम उल्लेखों में तो उन्होंने उमास्वाति के

मत से छः ही द्रव्य स्वीकार किये हैं। प्रशमरति के उद्धृत श्लोक द्वारा सिद्धसेन ने इसी कथन का समर्थन किया है। बिना किसी प्रमाण के प्रशमरति को उमास्वाति-कर्तृत्व निषेध करने का कोई अर्थ नहीं, जब कि सिद्धसेन, वादिदेव आदि आचार्यों ने उसे स्पष्ट उमास्वाति की कृति लिखा है। "एतानि द्रव्याणि न हि कदाचित् पंचत्वं व्यभिचरन्ति" इस भाष्य वाक्य में 'पंच द्रव्याणि' का अर्थ 'पंचास्तिकाय' है, यह बात पहले विस्तार से कही जा चुकी हैं, अतएव यहाँ पुनः नहीं लिखी जाती।

बड़ा आश्चर्य है कि "सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्" इस तरह का तत्त्वार्थ-भाष्य में स्पष्ट उल्लेख होने पर भी भाष्यकार के मत से षट्द्रव्यों की मान्यता का क्यों निषेध किया जाता है! यदि भाष्यकार छः द्रव्य नहीं मानते तो फिर 'षड् द्रव्यावरोधात्' यह स्वमान्यताविरुद्ध प्रतिवादी को हेतु-उपन्यस्त करने का क्या कारण? तथा जो हेतु प्रतिवादी को दिया जाय, वह वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य होना चाहिये? परन्तु प्रतिवादी तो छः द्रव्यों को स्वीकार करता नहीं, फिर उसे उक्त हेतु देने का क्या अर्थ? इसी प्रकरण में जैसे "सर्वं चतुष्ट्वं? चतुर्दर्शनविषयावरोधात्" वाक्य में प्रतिवादी को जैन-परम्परामान्य चक्षुर्दर्शन-अचक्षुर्दर्शन आदि द्योतक 'चतुर्दर्शनविषयावरोधात्' हेतु मान्य नहीं, उसी तरह षड्द्रव्यावरोधात्' हेतु भी उसे मान्य नहीं हो सकता।

"कायग्रहणं प्रदेशावयव" आदि भाष्यपंक्ति का स्पष्टार्थ है कि "अजीवकायाः" आदि सूत्र में 'काय' शब्द का ग्रहण प्रदेशबहुत्व बताने के लिये, और काल का प्रतिषेध करने के लिये अर्थात् काल-द्रव्य एकप्रदेशी है अतएव वह काय नहीं, यह बताने के लिये किया गया है। यह एक बिलकुल स्थूल बात है कि यदि भाष्यकार काल-द्रव्य को मानते ही नहीं, तो उन्हें यह चिन्ता क्यों होनी चाहिये कि यदि 'अजीवकायाः" आदि सूत्र में 'काय' शब्द नहीं रक्खा जायगा तो फिर 'अजीव' कहने से काल का भी ग्रहण हो जायगा; तथा काल-द्रव्य अजीव तो है, पर काय अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं, अतएव भाष्यकार को उसका यहाँ ग्रहण करना इष्ट नहीं; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आगे भी काल ग्रहण उन्हें अनिष्ट है। 'कायग्रहणं' आदि भाष्य-पंक्ति का अर्थ यहाँ वही करना चाहिये जो अकलंक ने अपने "तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं" (पृष्ठ १८८ वार्तिक ८) और "अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" (पृष्ठ १८९ वार्तिक १६) इन दो वार्त्तिकों में किया है। जैसे अकलंकदेव "अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" इस वार्त्तिक से काल का सर्वथा निषेध नहीं करते, उसी तरह तत्त्वार्थभाष्यकार ने उक्त पंक्ति में भी अपने भाष्य में काल का निषेध नहीं किया है। अतः जिस प्रकार "षड्द्रव्याणि" इन शब्दों के उल्लेख के विना भी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक में केवल 'षट्' शब्द के अनेक बार उपलब्ध होने पर राजवार्त्तिकगत बहुत बार षड्द्रव्यों का

उल्लेख' (बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि) माना जाता है, उसी तरह 'षडद्रव्याणि' इन शब्दों के उल्लेख के विना भी तत्वार्थभाष्य में 'बहुत बार छः द्रव्यों का उल्लेख' मानने में क्या आपत्ति! ऊपर बताया जा चुका है कि भाष्य में किस किस रूप में और किस स्थल पर षड्द्रव्यत्व की मान्यता सूचक स्पष्ट वाक्य आते हैं, जिनका समर्थन सिद्धसेनगणि ने किया है।

(५) तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्त्तिक में शब्दादिगत साम्य

आक्षेप—अकलंकदेव से पूर्व श्वेताम्बर भाष्य के अस्तित्व का अभी तक कोई भी प्रमाण सामने नहीं आया। हरिभद्रसूरि आठवीं-नौवीं शताब्दि के विद्वान् हैं, तथा सिद्धसेन गणि दसवीं-ग्यारहवीं के। अतः अकलंक देव के बहुत पीछे के इन विद्वानों द्वारा तत्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर भाष्य की एक कर्तृता आदि की मान्यतायें कुछ भी कीमत नहीं रखतीं।

उत्तर—तत्त्वार्थभाष्य की प्रमाणिकता का सब से प्रबल प्रमाण है भाष्यकार की प्रशस्ति, ग्रन्थ की भाषा तथा हरिभद्र सिद्धसेन, देवगुप्त आदि श्वेताम्बर विद्वानों की उक्त भाष्य पर टीका-टिप्पणियाँ। जब तक उक्त प्रशस्ति को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण न दिये जायँ, तब तक कथनमात्र से भाष्य को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस तरह तो किसी भी ग्रन्थ को अप्रमाण बताया जा सकता है। हरिभद्र का समय आठवीं शताब्दि सुनिश्चित है, फिर भी उन्हें आठवीं-नौवीं सदी का विद्वान् बताना इतिहासानभिज्ञता है। सिद्धसेनगणि को हरिभद्र के दो सौ वर्ष बाद का विद्वान् बताने का अर्थ समझ में नहीं आता। अभी तक तो सिद्धसेन हरिभद्र के लगभग समकालीन माने जाते रहे हैं; अब यदि शास्त्रीजी ने कोई नई खोज की हो, तो मालूम नहीं! उक्त दोनों विद्वानों को अकलंक के बहुत पीछे का बताया गया है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया गया कि वे दो सौ वर्ष पीछे के हैं या चार सौ वर्ष पीछे के। थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय, हरिभद्र और सिद्धसेन अकलंक के बहुत पीछे के हैं, तो इससे क्या हुआ? ऐसी तो कोई व्याप्ति है नहीं कि अकलंक के उत्तरवर्ती जिन विद्वानों ने किसी भाष्य पर टीकायें लिखी हैं, वे सब भाष्य अप्रामाणिक हैं। फिर ऐसा कौन-सा प्रमाण है, जिसके बल पर श्वेताम्बर भाष्य को एक कर्तृता आदि का खंडन किया जा रहा है? शब्दादिगत सादृश्य के आधार से ही माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख पर दिङ्नाग के न्यायप्रवेश और धर्मकीर्त्ति के न्यायबिन्दु का प्रभाव माना जाता है। यह कोई बुद्धिमान नहीं कहता कि दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति ने परीक्षामुख के ऊपर से अपने सूत्र बना लिये हैं। फिर यही बात अकलंक और भाष्यकार उमास्वाति के विषय में क्यों न मानी जाय? जैसे यह नहीं माना जाता कि राजवार्त्तिक के आधार से पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि बनाई

हैं, इसी तरह यह नहीं कह सकते कि राजवार्त्तिक के आधार से भाष्य बनाया गया है। शब्द, चर्चा आदि के सादृश्य के अतिरिक्त भाष्य में जिस बात का संकोच है, राजवार्त्तिक में उसका विस्तार है; फिर कौन ग्रन्थ पूर्ववर्त्ती होना चाहिये और कौन उत्तरवर्त्ती, यह हर बुद्धिमान मनुष्य सरलता से समझ सकता है।

वस्तुतः शास्त्री महोदय हमारी किसी भी युक्ति का खंडन अब तक नहीं कर सके। जगह-जगह अपने लेख में उन्होंने केवल अपनी विजय की डंका बजायी है; कहीं शब्दों को तोड़-मरोड़ कर उनका मनोनीत अर्थ करने का प्रयत्न किया है; कहीं प्रतिपक्षी की युक्तियों का खण्डन किये विना ही अपनी दलीलों की आवृत्ति की है; कहीं बेसिर-पैर की इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी हैं। इस पर भी यदि आप समझते हैं कि आपने तत्त्वार्थभाष्य के एककर्तृत्व की बात को छूमंतर की तरह उड़ा दिया है, तो आप समझते रहिये, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसका निर्णय हम सम्पादक 'अनेकांत' के ऊपर छोड़ते हैं, जो इस चर्चा को जन्म देकर अब मौन हैं। क्या हम सम्पादकजी से आशा करें कि वे इस विषय पर खोजपूर्ण प्रकाश डाल कर 'स्थितिकरण' का पालन करेंगे!

नोट:—नियमानुसार इस लेख का अन्तिम प्रूफ मूल कॉपी के साथ लेखक के पास भेजा गया था। परन्तु इस आन्दोलन में उनके गिरफ्तार कर लिये जाने के कारण वह प्रूफ लौटकर नहीं आया। मूल कॉपी के न रहने से संभव है कि इसमें कुछ गलतियाँ रह गई हों; पर यह विवशता की बात है। इस लेख के सम्बन्ध में एक बात और कह देनी है; वह यह है कि भविष्य में इसके पक्ष में या विपक्ष में किसी का कोई भी लेख 'भास्कर' में नहीं छपेगा।

—संपादक

ॐ

विरुदावली

"स्वस्ति श्रीजिननाथाय, स्वस्ति श्रीसिद्धसूरिणे (१) ।
स्वस्ति पाठकसाधुभ्यां, स्वस्ति श्रीगुरवे तथा ॥१॥
मंगलं भगवानर्हन् मंगलं सिद्धसूरयः ।
उपाध्यायस्तथा साधुर्जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥२॥
सद्धर्मामृतवर्षहर्षितजगज्जन्तुर्यथाम्भोधरः ।
स्थैर्यान्मेरुरगाधताब्धिरवनिसारोह्यपारक्षमः ॥
दुर्वारस्मरवारिवाहपवनः शुम्भत्प्रभाभास्करः ।
चन्द्रः सौम्यतया सुरेन्द्रमहितो वीरः श्रियो वः क्रियात् ॥३॥
स्वस्ति श्रीमूलसंघे प्रवरबलगणे कुन्दकुन्दान्वये च ।
विद्यानन्दिप्रबन्धुं विमलगुणयुतं मल्लिभूषं मुनीन्द्रम् ॥
लक्ष्मीचन्द्रं यतीन्द्रं विबुधवरनुतं वीरचन्द्रं स्तुवेऽहम् ।
श्रीमज्ज्ञानादिभूषं सुमतिसुखकरं श्रीप्रभाचन्द्रदेवम् ॥४॥

श्री जिननाथ मंगलमय हों, श्री सिद्ध और सूरि मंगलमय हों, उपाध्याय और साधु मंगलमय हों और श्री गुरु मंगलमय हों ॥१॥ भगवान् अर्हन् मंगलमय हों; सिद्ध और आचार्य मंगलमय हों; उपाध्याय, साधु तथा जैनधर्म मंगलमय हों ॥२॥ सद्धर्म (जैनधर्म) रूपी अमृत की वृष्टि से जगत् के जीवों को हर्षित करनेवाले, अतएव मेघ के समान, स्थिरता में मेरु पर्वत के समान, अगाधता में समुद्र के समान, संसार के सार का ऊहापोह करके पार जाने में समर्थ, दुर्दमनीय कामदेवरूपी मेघमण्डल के लिए पवनस्वरूप, शुभ्रदीप्ति के कारण सूर्य के समान, सौम्यता के कारण चन्द्रमा के समान और देवताओं के अधिपति इन्द्र द्वारा पूजित (वे भगवान्) वीर आप लोगों का कल्याण करें ॥३॥ मंगलमय श्री मूलसंघ में, श्रेष्ठ बलात्कारगण में और कुंदकुंद की शिष्यपरम्परा में विद्यानन्दी के श्रेष्ठ बन्धु, शुभ गुणों से युक्त मल्लिभूषण मुनीन्द्र की, लक्ष्मीचन्द्र यतीन्द्र की, देवताओं से वन्दित वीरचन्द्र की और ज्ञान आदि गुणों से भूषित, सुमति तथा सुख देनेवाले श्री प्रभाचन्द्रदेव की मैं स्तुति करता हूँ ॥४॥

स्वस्ति श्रीवीरमहावीरातिवीरसन्मतिवर्द्धमानतीर्थंकरपरमदेववदनारविन्दविनिर्गत-दिव्यध्वनिप्रकाशनप्रवीणश्रीगौतमस्वामिगणधरान्वयश्रुतकेवलिश्रीमद्भद्रबाहुयोगीन्द्राणां श्रीमूलसंघसंजनितनन्दिसंघप्रकाशबलात्कारगणाग्रणीपूर्वापरांशवेदिश्रीमाघनन्दिभट्टारकाणां तत्पट्टकुमुदवनविकाशनचन्द्रायमानसकलसिद्धान्तादिश्रुतसागर-पारंगतश्रीजिनचन्द्रमुनीन्द्राणाम् ॥१॥

तत्पट्टोदयाद्रिदिवाकरश्रीएलाचार्यगृध्रपिच्छवक्रग्रीवपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य-वर्य्याणाम् ॥२॥

दशाध्यायसमाक्षिप्तजैनागमतत्त्वार्थसूत्रसमूहश्रीमदुमास्वातिदेवानाम् ॥३॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणविचारचातुरीचमत्कारचमत्कृतचतुरवरनिकर-चतुरशीतिसहस्रप्रमितिवृहदाराधनासारकर्तृश्रीलोहाचार्याणाम् ॥४॥

अष्टादशवर्णविरचितप्रबोधसारादिग्रन्थश्रीयशःकीर्त्तिमुनीन्द्राणाम् ॥५॥

कुन्देन्दुहारतुषारकाशसंकाशयशोभरभूषितश्रीयशोनन्दीश्वराणाम् ॥६॥

मंगलमय श्री वीर, महावीर, अतिवीर, सन्मति, वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के मुखारविन्द से निकली हुई दिव्यवाणी को प्रकाशित करने में निपुण श्री गौतम स्वामी गणधर के शिष्य श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु योगीन्द्र के, श्रीमूलसंघ से उत्पन्न नन्दिसंघ का प्रकाश-स्वरूप बलात्कारगण में अग्रेसर तथा पूर्व एवं अपर अंश को जाननेवाले श्रीमाघनन्दी भट्टारक के और उनके पट्ट-रूपी कुमुद वन को विकासित करनेवाले चन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण सिद्धान्त आदि आगम रूपी समुद्र के पारंगत श्री जिनचन्द्र मुनीन्द्र के ॥१॥

उनके पट्ट-रूपी उदयाचल पर उदित सूर्य के समान श्री एलाचार्य, गृध्रपिच्छ, वक्रग्रीव, पद्मनन्दी और कुंदकुंदाचार्यवरों के ॥२॥

जैनागम के सार को दश अध्यायों में "तत्त्वार्थसूत्र" के रूप में प्रस्तुत करने वाले श्रीमान् उमास्वाति देव के ॥३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र सम्यक् तपस्या और विचार-चातुर्य के चमत्कार से चतुर लोगों के समूह को चमत्कृत करनेवाले चौरासी हजार श्लोक परिमित 'वृहदाराधनासार' की रचना करनेवाले श्री लोहाचार्य के ॥४॥

अष्टादश वर्णों द्वारा 'प्रबोधसार' आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री यशःकीर्त्ति मुनिवर के ॥५॥

इन्दु, कुमुद की माला, तुषार (हिम) और काश नामक तृण के समान स्वच्छ यशःपुञ्ज से भूषित श्रीयशोनन्दीश्वर के ॥६॥

जैनेन्द्रमहाव्याकरणश्लोकवार्तिकालङ्कारादि(?)महाग्रन्थकर्तृणां श्रीपूज्यपाद-देवानाम् ॥७॥

सम्यग्दर्शनगुणगणमण्डितश्रीगुणनन्दिगणीन्द्राणाम् ॥८॥

परवादिपर्वतवज्रायमानश्रीवज्रनन्दियतीश्वराणाम् ॥९॥

सकलगुणगणाभरणभूषितश्रीकुमारनन्दिभट्टारकाणाम् ॥१०॥

निखिलविष्टपकमलवनमार्तण्डतपःश्रीसंजातप्रभादूरीकृतदिगन्धकारसिद्धान्त-पयोधिशशधरमिथ्यात्वतमोविनाशनभास्करपरवादिमतेभकुम्भस्थलविदारणसिंहानां श्रीलोकचन्द्रप्रभाचन्द्रनेमिचन्द्रभानुनन्दिसिंहनन्दियोगीन्द्राणाम् ॥११॥

आचाराङ्गादिमहाशास्त्रप्रवीणताप्रतिबोधितभव्यजननिकरस्याद्वादसमुद्रसमुत्थ-सदुपन्यासकल्लोलाधःपातितसौगत-सांख्य-शैव-वैशेषिक-भाट्ट-चार्वाकादिगजेन्द्राणां श्रीमद्वसुनन्दिवीरनन्दिरत्ननन्दिमाणिक्यनन्दिमेघचन्द्रशान्तिकीर्त्तिमेरुकीर्त्तिमहा-कीर्त्तिविष्णुनन्दिश्रीभूषणशीलचन्द्रश्रीनन्दिदेशभूषणानन्तकीर्त्तिधर्मनन्दिविद्यानन्दि

जैनेन्द्रमहाव्याकरण और श्लोकवार्तिकालंकार (?) आदि महान् ग्रन्थों के रचयिता श्री पूज्यपाद देव के ॥७॥

सम्यग्दर्शन के गुणराशि से भूषित श्रीगुणनन्दी गणीन्द्र के ॥८॥

परवादी-रूप पर्वत के लिए वज्र के समान श्री वज्रनन्दी यतीन्द्र के ॥९॥

सकल गुणसमूह रूपी आभरणों से अलंकृत श्रीकुमारनन्दी भट्टारक के ॥१०॥

सम्पूर्ण संसार-रूप कमलवन को विकासित करने में सूर्य के समान, तपस्या की छवि से उत्पन्न प्रभा द्वारा सभी दिशाओं के अन्धकार को दूर करनेवाले, सिद्धान्त-समुद्र की पुष्टि करने में चन्द्रमास्वरूप, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्यतुल्य, परवादियों के सिद्धान्त-रूपी हाथी के मस्तक को विदीर्ण करने में सिंह के समान श्री लोकचन्द्र, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, भानुनन्दी और सिंहनन्दी योगीन्द्रों के ॥११॥

आचारांग आदि महाशास्त्रों की प्रवीणता द्वारा भव्यजनों को प्रतिबोधित करनेवाले, स्याद्वाद-रूपी समुद्र की उत्ताल तरंग रूपी सद्युक्ति द्वारा सौगत-सांख्य-शैव-वैशेषिक-भाट्ट (मीमांसक) और चार्वाक आदि गजेन्द्रों को नीचे गिरानेवाले श्री वसुनन्दी, वीरनन्दी, रत्ननन्दी, माणिक्यनन्दी, मेघचन्द्र, शान्तिकीर्त्ति, मेरुकीर्त्ति, महाकीर्त्ति, विष्णुनन्दी, श्रीभूषण, शीलचन्द्र, श्रीनन्दी, देशभूषण, अनन्तकीर्त्ति, धर्मनन्दी, विद्यानन्दी,

रामचन्द्ररामकीर्तिनिर्भयचन्द्रनागचन्द्रनयनन्दिहरिचन्द्रमहीचन्द्रमाधवचन्द्रलक्ष्मी-चन्द्रगुणचन्द्रवासवचन्द्रगणीन्द्राणाम् ॥१२॥

सुरासुरखेचरनरनिकरचर्चितचरणाम्भोरुहाणां श्रुतकीर्तिभावचन्द्रमहाचन्द्रमेघ-चन्द्रब्रह्मनन्दिशिवनन्दिविश्वचन्द्रस्वामिभट्टारकाणाम् ॥१३॥

दुर्धरतपश्चरणवज्राग्निदग्धदुष्टकर्म्मकाष्ठानां श्रीहरिनन्दिभावनन्दिस्वरकीर्तिविद्या-चन्द्ररामचन्द्रमाघनन्दिज्ञाननन्दिगङ्गकीर्तिसिंहकीर्तिहेमकीर्तिचारुकीर्तिनेमिनन्दि-नाभिकीर्तिनरेन्द्रकीर्तिश्रीचन्द्रपद्मकीर्तिपूज्यभट्टारकाणाम् ॥१४॥

सकलतार्किकचूडामणिसमस्तशाब्दिकसरोजराजितरणिनिखिलागमनिपुणश्री-मदकलङ्ककचन्द्रदेवानाम् ॥१५॥

ललितलावण्यलीलालङ्कितगात्रत्रैविद्याविलासविनोदितत्रिभुवनोदरस्थविबुध-कदम्बचन्द्रकरनिकरसन्निभयशोभरसुधारसधवलितदिग्मण्डलानां श्रीललितकीर्त्ति-केशवचन्द्रचारुकीर्त्यऽभयकीर्तिसूरिवर्याणाम् ॥१६॥

रामचंद्र, रामकीर्त्ति, निर्भयचंद्र, नागचंद्र, नयनंदी, हरिचंद्र, महीचंद्र, माधवचंद्र, लक्ष्मीचंद्र, गुणचंद्र, वासवचंद्र और लोकचंद्र गणीन्द्रों के ॥१२॥

देवता, राक्षस, खेचर और मनुष्यों द्वारा पूजित चरणकमल वाले श्रुतकीर्त्ति, भावचंद्र, महाचंद्र, मेघचंद्र, ब्रह्मनंदी, शिवनंदी और विश्वचंद्र स्वामी भट्टारकों के ॥१३॥

अत्यंत कठिन तपस्या रूपी वज्राग्नि द्वारा बुरे कर्मरूपी काष्ठ को जला चुकनेवाले हरिनंदी, भावनंदी, स्वरकीर्त्ति, विद्याचंद्र, रामचंद्र, माघनंदी, ज्ञाननंदी, गंगकीर्त्ति, सिंहकीर्त्ति, हेमकीर्त्ति, चारुकीर्त्ति, नेमिनंदी, नाभिकीर्त्ति, नरेन्द्रकीर्त्ति, श्रीचंद्र और पद्मकीर्त्ति पूज्य भट्टारकों के ॥१४॥

सभी तार्किकों के शिरोभूषण, समस्त वैयाकरण रूपी कमलों के लिए सूर्य और सम्पूर्ण आगम में निपुण श्रीअकलङ्कचन्द्रदेव के ॥१५॥

मञ्जुल लावण्यपूर्ण शरीरवाले, तीनों विद्याओं के विलास से त्रिभुवन के विद्वानों को आनंदित करनेवाले और चंद्रकिरणों के समान स्वच्छ यशःपुञ्ज रूपी सुधारस से दिशाओं को समुज्ज्वल करनेवाले श्री ललितकीर्त्ति, केशवचन्द्र, चारुकीर्त्ति और अभयकीर्त्ति आचार्यवरों के ॥१६॥

जाग्रज्जिनेन्द्रसिद्धान्तसमशत्रुमित्रप्रेयोरसाकुलितसिंहगजादिसेव्यानां श्रीवसन्तकीर्त्तिश्रीवादिचन्द्रविशालकीर्त्तिशुभकीर्तियतिराजानाम् ॥१७॥

राजाधिराजगुणगणविराजमानश्रीहम्मीरभूपालपूजितपादपद्मसैद्धान्तिकसंयमसमुद्रचन्द्रश्रीधर्मचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥१८॥

तत्पदाम्बुजभानुस्याद्वादवादिवादीश्वरश्रीरत्नकीर्तिपुण्यमूर्तीनाम् ॥१९॥

महावादवादीश्वरवादिपितामहप्रमेयकमलमार्तण्डाद्यनेकग्रन्थविधायकश्रीमहापुराणस्वयम्भूसप्त(?)भक्तिपरमात्मप्रकाशसमयसारादिसूत्रव्याख्यानसर्ज्जनसंजातकोविदसभाकीर्त्तिभट्टारकाणां श्रीमत्प्रभाचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥२०॥

अनेकाध्यात्मशास्त्रसरोजषण्डविकासनमार्तण्डमण्डलयथाख्यातचारित्रसुविधानसन्तोषिताखण्डलानां श्रीपद्मनन्दिदेवभट्टारकाणाम् ॥२१॥

त्रैविद्यविद्वज्जनशिखण्डमण्डलीभवत्कायधर(?)कमलयुगलावंतीदेशप्रतिष्ठोपदेशकसप्तशत-कुटुम्ब-रत्नाकर-ज्ञातिसुश्रावकस्थापकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिशुभकीर्तिभट्टारकाणाम् ॥२२॥

श्री जिनेन्द्र के सिद्धांतों को जाग्रत करनेवाले, शत्रु, मित्र और उदासीन सब को प्रीतिरस से वशीभूत करनेवाले एवं सिंह, हाथी आदि से सेव्य श्री वसंतकीर्त्ति, श्रीवादिचंद्र, विशालकीर्त्ति और शुभकीर्त्ति यतिवरों के ॥१७॥

राजाओं के राजा और सभी गुणों से अलंकृत श्री हम्मीर राजा द्वारा पूजित चरण-कमलवाले और सिद्धांत-संबंधी संयमरूपी समुद्र को संवृद्ध करनेवाले चंद्रमा के समान श्रीधर्मचंद्र भट्टारक के ॥१८॥

उनके पदाब्जों को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्यस्वरूप, स्याद्वाद के वादियों के लिए वादीश्वर पुण्यमूर्त्ति श्री रत्नकीर्त्ति के ॥१९॥

महावाद-वादीश्वर, वादि-पितामह, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता, श्री-महापुराण, स्वयम्भू सप्त(?)भक्ति, परमात्मप्रकाश और समयसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की व्याख्या करनेवाले परम शास्त्रज्ञ सभाकीर्त्ति भट्टारक (?) और श्री प्रभाचन्द्र भट्टारक के ॥२०॥

अनेक अध्यात्मशास्त्र रूपी कमलसमूह को विकासित करनेवाले सूर्य-स्वरूप, यथाख्यात चारित्र्य के विधान द्वारा देवेन्द्र को प्रसन्न करनेवाले श्री पद्मनंदिदेव भट्टारक के ॥२१॥

तीनों विद्याओं के ज्ञाताओं में शिरोभूषण-स्वरूप, मण्डलाकार परिवेष्टित संसारियों द्वारा सेवित युगल (चरण) कमलवाले (?) अवन्तीदेश की (मूर्त्ति) प्रतिष्ठा में उपदेश देने वाले सात सौ परिवार-रूपी समुद्र के अन्तर्गत ज्ञाति-सुश्रावकों के उद्धारक श्री देवेंद्रकीर्त्ति और शुभकीर्त्ति भट्टारकों के ॥२२॥

तत्पट्टोदयसूर्याचार्यवर्य्यनवविधब्रह्मचर्यपवित्रचर्यामन्दिरराजाधिराजमहामण्डलेश्वरवज्रांगगंगजयसिंहव्याघ्रनरेन्द्रादिपूजितपादपद्मानां अष्टशाखाप्राग्वाट्वंशावतंसानां षड्भाषाकविचक्रवर्त्तिभुवनतलव्याप्तविशदकीर्तिविश्वविद्याप्रासादसूत्रधारसद्ब्रह्मचारिशिष्यवरसूरिश्रीश्रुतसागरसेवितचरणसरोजानां श्रीजिनयात्राप्रतिष्ठाप्रासादोद्धरणोपदेशनैकदेशभव्यजीवप्रतिबोधकानां श्रीसम्मेदगिरिचम्पापुरीउज्जयन्तगिरिअक्षयवटआदीश्वरदीक्षासर्वसिद्धक्षेत्रकृतयात्राणां श्रीसहस्रकूटजिनबिम्बोपदेशकहरिराजकुलोद्योतकराणां श्रीरविनन्दिपरमाराध्यस्वामिभट्टारकाणाम् ॥२३॥

तत्पट्टोदयाचलबालभास्करप्रवरपरवादिगजयूथकेसरिमण्डपगिरिमन्त्रवादसमस्याप्तचन्द्रपुर्विकटवादिगोपदुर्गमेधाकर्षणभविकजनसस्यामृतवाणिवर्षणसुरेन्द्रनागेन्द्रादिसेवितचरणारविन्दानां मालवमुलतानमगधमहाराष्ट्रगौडगुर्ज्जरांगवंगतिलंगादिविविधदेशोत्थभव्यजनप्रतिबोधनपटुवसुन्धराचार्यग्यासदीनसभामध्यप्राप्तसम्मानश्रीपद्मावत्युपासकानां श्रीमल्लिभूषणभट्टारकवर्य्याणाम् ॥२४॥

उनके पट्ट पर उदित सूर्य के समान, आचार्य-प्रवर, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य द्वारा चारित्र-रूपी मंदिर को पवित्र करनेवाले, राजाधिराज महामण्डलेश्वर—वज्रांग, गंग और जयसिंह इन श्रेष्ठ राजाओं द्वारा पूजित चरण कमलवाले, अष्टशाखा प्राग्वाट् वंश में उत्पन्न, छः भाषाओं में कवि-सम्राट्, पृथ्वीतल पर विस्तृत स्वच्छ कीर्त्तिवाले, अखिल विद्याओं के प्रासाद के सूत्रधार, पूर्ण ब्रह्मचारी शिष्य-श्रेष्ठ सूरी श्री श्रुतसागर जी द्वारा सेवित चरण-कमल वाले, श्री जिनयात्रा, प्रतिष्ठा और मंदिरोद्धार के उपदेशों द्वारा मुख्य मुख्य देशों के भव्य जीवों को उद्बोधित करनेवाले, श्री सम्मेदगिरि, चम्पापुरी, उज्जयंतगिरि, आदीश्वरदीक्षास्थान अक्षयवट, और सभी सिद्धक्षेत्रों की यात्रा करनेवाले, श्री सहस्रकूट जिनबिंबोपदेशक एवं हरि वंश को उद्भासित करनेवाले श्री रविनंदी नामक परम आराध्य स्वामी भट्टारक के ॥२३॥

उनकी पट्ट (गद्दी) रूपी उदयाचल पर उगनेवाले प्रातःकालिक सूर्य के समान, अत्यंत श्रेष्ठ, अन्यमतवादी रूपी हाथियों के समूह के लिए सिंह-स्वरूप, मंडपगिरि (मांडलगढ़) के मंत्रवाद समस्या में चंद्रमा की पवित्रता प्राप्त करनेवाले, विकट परवादी रूप गोपों के (अजेय) दुर्ग को अपनी प्रखर बुद्धि से वश में करनेवाले, भव्यजनरूपी फसल पर अमृत समान वाणी की वर्षा करनेवाले, देवेन्द्र और नागेन्द्र से सेवित चरणकमल वाले, मालव-मुलतान-मगध-महाराष्ट्र-सौराष्ट्र-गौड-अंग-वंग-आन्ध्र आदि विविध देशों के भव्यजनों को उपदेश देने में निपुण, भूमंडल भर के आचार्य, गयासुद्दीन की सभा में सम्मान प्राप्त करनेवाले और श्री पद्मावती देवी के उपासक श्रीमल्लिभूषण महाभट्टारक के ॥२४॥

तत्पट्टकुमदवनविकासनशरत्सम्पूर्णचन्द्रानां जैनेन्द्रकौमारपाणिन्यमरशाकटायन मुग्धबोधादिमहाव्याकरणपरिज्ञानजलप्रवाहप्रक्षालितानेकशिष्यप्रशिष्यशेमुखीसंस्थित शब्दाज्ञानजम्बालानामनेकतपश्चरणकरणसमुत्थकीर्त्तिकलापकलितरूपलावण्यसौभा ग्यभाग्यमण्डितसकलशास्त्रपठनपाठनपण्डितविविधजीर्णनूतनस्फुटितप्रासादविधाप कश्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रबिम्बप्रतिष्ठादिमहामहोत्सवकारकाणां तिंगल(?)तौलवतिलंगकर्ड (?) कर्णाटलाटभोटादिदेशोत्पन्ननरेन्द्रराजाधिराजमहाराजराजराजेश्वरमहामण्ड लेश्वरभैरवरायमल्लिरायदेवरायबंगरायप्रमुखाष्टादशनरपतिपूजितचरणकमलश्रुतसाग पारंगतवादवादीश्वरराजगुरुवसुन्धराचार्यभट्टारकपदप्राप्तश्रीवीरसेनश्रीविशालकीर्ति-प्रमुखशिष्यवरसमाराधितपादपद्मानां श्रीमल्लक्ष्मीचन्द्रपरमभट्टारकगुरूणाम् ॥२५॥

तद्वंशमण्डनकन्दर्पसर्पदर्पदलनविश्वलोकहृदयरञ्जनमहाव्रतिपुरन्दराणां नव-सहस्रप्रमुखदेशाधिराजाधिराजमहाराजश्रीअर्जुनजीयराजसभामध्यप्राप्त सम्मानानां षोडशवर्षपर्यंतशाकपाकपक्वान्नशाल्योदनादिघृप्तिःप्रभृतिसरसाहारपरिवर्जितानां

उनके पट्ट रूपी कुमुदवन को विकासित करने के लिए शरद् ऋतु के पूर्ण चंद्रमा के समान, जैनेन्द्र, कौमार, पाणिनि, अमर, शाकटायन, मुग्धबोध आदि महाव्याकरण के परिज्ञान रूपी जल-प्रवाह से अनेक शिष्य-प्रशिष्यों की बुद्धि में स्थित शब्द-संबंधी अज्ञान रूपी पंक को धो देनेवाले, विविध तपस्याओं के द्वारा प्रसारित यशःसमूह वाले और रूपलावण्य से भूषित तथा सौभाग्य से मंडित, सभी शास्त्रों के पठन-पाठन में पंडित, अनेक पुराने तथा नये फूटे-टूटे मन्दिरों के उद्धारक श्री जिनेन्द्र की प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि बड़े-बड़े उत्सवों के करनेवाले, तौलव-आन्ध्र-कर्णाट-लाट-भोट आदि देशों के नरेन्द्र-राजाधिराज-महाराज-राजराजेश्वर-महामण्डलेश्वर भैरवराय-मल्लिराय-देवराय बंगराय इत्यादि अट्ठारह राजाओं से पूजित चरणकमलवाले, शास्त्ररूपी सागर के पारंगत, वादियों के ईश्वर, राजाओं के गुरु, भूमंडल के आचार्य, भट्टारक पद को प्राप्त श्री वीरसेन, श्री विशालकीर्त्ति प्रभृति शिष्यों द्वारा आराधित चरणकमल वाले श्री लक्ष्मीचंद्र परम भट्टारक गुरु के ॥२५॥

उनके वंश के भूषण, कामदेव रूपी सर्प के गर्व को चूर करने वाले, अखिल लोक के हृदय को आनन्दित करने वाले, महाव्रतिश्रेष्ठ, नव सहस्र प्रधान देशों के अधिपतियों के अधिपति महाराज श्री अर्जुन राज की सभा में सम्मान पाने वाले, सोलह वर्ष तक शाक-पाक, पक्वान्न, शाली का भात और घी आदि रसयुक्त आहार को छोड़ने वाले,

दुश्चारादिसर्वगर्वपर्वतचूर्णीकरणवज्रायमानप्रथमवचनखण्डनपण्डितानां व्याकरण-प्रमेयकमलमार्तण्डछन्दोलंकृतिसारसाहित्यसंगीतसकलतर्कसिद्धान्तागमशास्त्रसमुद्र-पारंगतानां सकलमूलोत्तरगुणमणिमण्डितविबुधवरश्रीवीरचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥२६॥

तत्पट्टोदयाद्रिदिनमणिनिखिलविपश्चिच्चक्रचूडामणिसकलभव्यजनहृदयकुमुद-वनविकासनरजनीजानिपरमजैनस्याद्वादनिष्णातशुद्धसम्यक्त्वजनजातगताभिमानि-मिथ्यावादिमिथ्यावचनमहीधरशृंगशातनप्रचण्डविद्युद्दण्डानां संस्कृताद्यष्टमहा-भाषाजलधरकरणछटासन्तर्पितभव्यलोकसारंगाणां चतुरशीतिवादविराजमानप्रमेय-कमलमार्तण्डन्यायकुमुदचन्द्रोदयराजवार्तिकालंकारश्लोकवार्तिकालंकाराप्तपरीक्षापरी-क्षामुखपत्रपरीक्षाष्टसाहस्रीप्रमेयरत्नमालादिस्वमतप्रमाणशशधरमणिकण्ठकिरणा-वलीवरदराजीचिन्तामणिप्रमुखपरमतप्रकरणैन्द्रचान्द्रमाहेन्द्रजैनेन्द्रकाशकृत्स्नकाला-पकमहाभाष्यादिशब्दागमगोम्मटसारत्रैलोक्यसारलब्धिसारक्षपणसारजम्बूद्वीपादिपंच-प्रज्ञप्तिप्रभृतिपरमागमप्रवीणानामनेकदेशनरनाथनरपतितुरंगपतिगजपतियवनाधीश-

दुश्चारादि(?) के सम्पूर्ण गर्वरूपी पर्वत को चूर्ण करने में वज्र के सदृश, प्रथम-वचन का खंडन करने में पंडित, व्याकरण-प्रमेयकमलमार्तण्ड-छंद-अलंकार-सार-साहित्य-संगीत-सम्पूर्ण-तर्क-सिद्धांत और आगमशास्त्र रूपी समुद्र के पारंगत सम्पूर्ण मूलोत्तर गुण रूपी मणियों से भूषित, विद्वानों में श्रेष्ठ श्री वीरचंद्र भट्टारक के ॥२६॥

उनके पट्ट (गद्दी) रूपी उदयाचल पर उदित सूर्य के समान, सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली के चूड़ामणि, सभी भव्यजनों के हृदय रूपी कुमुद-वन को विकासित करने के लिए रजनीपति, परम जैन, स्याद्वाद में निष्णात, शुद्ध, सम्यक्त्व को प्राप्त जात और मृत(?) अभिमानी मिथ्यावादियों के मिथ्या-वचन रूपी महीधरों (पर्वत) के शृङ्ग को तोड़ने में प्रचंड विद्युत्-दण्ड के सदृश, संस्कृत आदि आठ महाभाषा रूपी जलधरहेतुक छटाद्वारा भव्य जन रूपी मयूरादि पक्षियों को तृप्त करनेवाले, चौरासी वादियों में विराजमान, प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्रोदय-राजवार्तिकालंकार-श्लोकवार्तिकालंकार-आप्तपरीक्षा-परीक्षामुख-पत्रपरीक्षा-अष्टसाहस्री-प्रमेयरत्नमाला आदि अपने मत के प्रमाण रूपी चन्द्रमणि को कण्ठ में धारण करनेवाले, किरणावली-वरदराजी-चिंतामणि प्रभृति परमत में, ऐन्द्र, चान्द्र, माहेन्द्र, जैनेन्द्र काशकृत्स्न, कालापक और महाभाष्यादि शब्द-शास्त्र में गोम्मटसार, त्रैलोक्यसार, लब्धिसार, क्षपणसार और जम्बूद्वीपादि पंचप्रज्ञप्ति-प्रभृति परम आगमशास्त्रों में प्रवीण, अनेक देशों के नरनाथ, नरपति, अश्वपति, गजपति और यवन अधिपतिओं की

सभासम्प्राप्तसम्मानश्रीनेमिनाथतीर्थंकरकल्याणपवित्रश्रीउज्जयन्तशत्रुंजयतुंगीगिरि चूलगिर्य्यादिसिद्धक्षेत्रयात्रापवित्रीकृतचरणानामंगवादिभंगशीलकलिंगवादिकर्पूरका लानलकाश्मीरवादिकदलीकृपाणनेपालवादिशापानुग्रहसमर्थगुर्जरवादिदत्तदण्डगौड वादिगण्डभेरुण्डदत्तदण्डहम्मीरवादिब्रह्मराक्षसचोलवादिहल्लकल्लोलकोलाहलद्राविड वादित्राटनशीलतिलंगवादिकलंककारिदुस्तरवादिमस्तकशूलकोंकणवादिवरोत्वात-मूलव्याकरणवादिमर्दितमरट्टतार्किकवादिगोधूमघरट्टसाहित्यवादिसमाजसिंहज्योतिष्क वादिभूर्णी(?)तलिहमन्त्रवादियन्त्रगोत्रतन्त्रवादिकलप्रकुचकुम्भनिवोल(?)रत्नवादियत्न-कारसमस्तानवद्यविविधविद्याप्रासादसूत्रधाराणां सकलसिद्धान्तवेदिनिर्ग्रन्थाचार्य-वर्यशिष्यश्रीसुमतिकीर्तिस्वपरदेशविख्यातशुभमूर्तिश्रीरत्नभूषणप्रमुखसूरिपाठकसाधु-संसेवितचरणसरोजानां कलिकालगौतमगणधराणां श्रीमूलसंघसरस्वतीगच्छशृङ्गार-

सभाओं में सम्मान प्राप्त करने वाले श्री नेमिनाथ तीर्थंकर के कल्याण से पवित्र किये हुए, श्री ऊज्जयंत, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, चूलगिरि आदि सिद्धक्षेत्र की यात्रा से अपने चरणों को पवित्र किये हुए, अंगदेश के वादियों को भग्न करनेवाले, कलिंग देश के वादी रूपी कपूर के लिए भयंकर अग्नि के समान, काश्मीर के वादी रूपी कदली के लिए तलवार के समान, नेपाल के वादियों को शाप और अनुग्रह करने की शक्ति रखने वाले, गुजरात के वादिओं को दण्ड देने वाले, गौड (बंगाल का हिस्सा) के वादी रूपी गंड भेरुण्ड पक्षी को दण्ड देनेवाले हम्मीर (राजा) के वादियों के लिए ब्रह्मराक्षस के सदृश, चोल के वादियों में महान् कोलाहल मचाने वाले, द्राविड वादियों को त्राटन देनेवाले, तिलङ्ग के वादिओं कोलांछित करने वाले, दुस्तर (कठिन) वादिओं के लिए मस्तकशूल रोग के समान, कोंकण देश के वादिओं के लिए उत्कट वातमूल रोग के समान, व्याकरण शास्त्र के वादिओं को चकनाचूर करने वाले, तर्कशास्त्र के वादिओं को गेहूँ का आटा बनाने वाले, साहित्य के वादि-समाज लिए सिंह सदृश, ज्योतिष के वादियों को भूमिसात् करने वाले, मंत्रवादियों को यंत्र (कोल्हू) में डालने वाले, तंत्र वादियों की छाती विदीर्ण करने वाले, रत्नवादिओं का यत्न करने वाले, सम्पूर्ण निर्दोष विविध विद्या रूपी प्रासाद (भवन) के सूत्रधार सभी सिद्धांतों को जानने वाले, जैनाचार्यप्रवर, शिष्य श्री सुमतिकीर्त्ति, अपने और दूसरे देशों में प्रसिद्ध शुभमूर्त्ति श्रीरत्नभूषण प्रभृति सूरि, पाठक और साधुओं से सेवित चरण कमल वाले तथा कलिकाल के लिए गौतम गणधर-स्वरूप, श्रीमूलसंघ-सरस्वतीगच्छ के शृङ्गारहार-सदृश,

हाराणां गच्छाधिराजभट्टारकवरेण्यपरमाराध्यपरमपूज्यभट्टारकश्रीज्ञानभूषणगुरूणाम् ॥२७॥

तत्पट्टकुमुदवनविकासनविशदसम्पूर्णपूर्णिमासारशरच्चन्द्रायमानानां कविगमकवादिवाग्मिकचतुर्विधविद्वज्जनसभासरोजिनीराजहंससन्निभानां सारसामुद्रिकशास्त्रोक्तसकललक्षणलक्षितगात्राणां सकलमूलोत्तरगुणगणमणिमण्डितानां चतुर्विधश्रीसंघहृदयाह्लादकराणां सौजन्यादिगुणरत्नरत्नाकराणां संघाष्टकभारधुरंधराणां श्रीमद्रायराजगुरुवसुन्धराचार्यमहावादिपितामहसकलविद्वज्जनचक्रवर्त्तिवंकुडीकुडीयाण (?)परगृहविक्रमादित्यमध्याह्नकल्पवृक्षबलात्कारगणविरुदावलीविराजमानडिल्लीगुर्जरादिदेशसिंहासनाधीश्वराणां श्रीसरस्वतीगच्छश्रीबलात्कारगणाग्रगण्यपाषाणघटितसरस्वतीवादनश्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वयभट्टारकश्रीविद्यानन्दिश्रीमल्लिभूषणश्रीमल्लक्ष्मीचन्द्रश्रीवीरचन्द्रसाम्प्रतिकविद्यमानविजयराज्ये श्रीज्ञानभूषणसरोजचञ्चरीकश्रीप्रभाचन्द्रगुरूणाम् ॥२८॥

तत्पट्टकमलबालभास्करपरवादिगजकुम्भस्थलविदारणसिंहस्वदेशपरदेशप्रसिद्ध-

गच्छाधिराज, भट्टारकों में श्रेष्ठ, परम आराध्य और परम पूज्य भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरुवर के ॥२७॥

उनके पट्ट-रूपी कुमुदवन को विकासित करने के लिए स्वच्छ शरद् कालीन पूर्णिमा के चन्द्र के समान, कवि-गमक-वादी-वाग्मिक इन चारों प्रकार के विद्वानों की सभा रूपी सरोजिनी में राजहंस के सदृश, सामुद्रिक शास्त्र में कथित सभी शुभ लक्षणों से युक्त शरीर वाले, सम्पूर्ण मूलोत्तर गुण-मणियों से अलंकृत, चारों प्रकार के संघों के हृदयाह्लादक, सौजन्य आदि गुण रत्नों के सागर, संघाष्टक के भार की धुरी को धारण करने वाले, श्रीमान् राव (?) के राजगुरु, भूमंडल के आचार्य, महावादिओं के पितामह, अखिल विद्वज्जनों के चक्रवर्त्ती, (वकुंडी कुडीयाण ?)·····शत्रुगृह के लिए विक्रमादित्य, मध्याह्न के लिए कल्पवृक्ष, बलात्कारगण की विरुदावली में विराजमान, दिल्ली गौर्जर (गुर्जर) आदि देशों के सिंहासनाधीश्वर, श्री मूलसंघ-श्रीसरस्वतीगच्छ-श्रीबलात्कारगण में अग्रगण्य, पत्थर की बनी सरस्वती को बुलवाने वाले, श्री कुंदकुंदाचार्य के वंश में भट्टारक श्री विद्यानंदी, श्री मल्लिभूषण, श्री लक्ष्मीचंद्र और श्री वीरचंद्र के संप्रति विद्यमान विजयराज्य में श्रीज्ञानभूषण रूपी सरोज के लिए चंचरीक भट्टारक श्री प्रभाचंद्र गुरु के ॥२८॥

उनके पट्ट रूपी कमल के लिए बालसूर्य, परमतवादी रूपी गज के मस्तक को विदीर्ण

नामपंचमिथ्यात्वगिरिशृङ्गशातनप्रचण्डविद्युद्दण्डानां जंगमकल्पद्रुमकलिकालगौतमावतारारूपलावण्यसौभाग्यभाग्यमण्डितनिजवचनकलाकौशल्यविस्मापिताखण्डलमहावादवादीश्वरराजगुरुवसुन्धराचार्यहुंबडकुलशृङ्गारहारभट्टारकश्रीमद्वादिचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥२९॥

तत्पट्टैकसम्पूर्णचन्द्रस्वराद्धान्तविद्योत्कटपरवादिगजेन्द्रगर्वस्फोटनप्रबलेन्द्रमृगेन्द्राणां कृत्स्नाद्वयशब्दश्रुतछन्दोलंकृतिकाव्यतर्कादिपठनपाठनसामर्थ्यप्रोत्थकीर्त्तिवल्ल्याच्छादितवंगांगतिलंगगुर्जरनवसहस्रदक्षिणवाग्वरादिदेशमण्डपानां महावादीश्वरश्रीमन्मूलसंघशृंगारहारश्रीमद्वादिचन्द्रपट्टोदयाद्रिबालदिवाकराणां त्रिजगज्जनाह्लादनप्रकृष्टप्रज्ञाप्रागल्भ्याभिनववादीन्द्रसकलमहत्तममहतीमहीमहतामहस्क(?)महन्महीपतिमहितश्रीमहीचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥३०॥

तत्पट्टोदयाद्रिबालविभाकरविद्वज्जनसभामण्डनमिथ्यामतखण्डनपण्डितानाम् परवादिप्रचण्डपर्वतपाटनपवीश्वराणां भव्यजनकुमुदवनविकाशनशशधरधर्म्मामृत-

करने में सिंह के समान, स्वदेश और परदेश में ख्याति प्राप्त, पंच मिथ्यात्व-स्वरुप पर्वत के शिखर को नष्ट भ्रष्ट करने में प्रचंड बिजली के समान, चलते-फिरते कल्पवृक्ष-स्वरूप, कलिकाल में गौतमावतार रूप, लावण्य और सौभाग्य से युक्त, अपने वचन की चातुरी से इन्द्र को विस्मय में डालने वाले, महावाद-वादीश्वर, राजगुरु, भूमण्डल के आचार्य, हुंबड कुल के शृंङ्गारहार, भट्टारक श्री वादिचन्द्र के ॥२९॥

उनके पट्ट को (सुशोभित करने के लिए) एकमात्र पूर्णचन्द्र, अपने सिद्धान्त की विद्या में उत्कट, परमतवादी-रूपी गजेन्द के गर्व को फोड़नेवाले प्रबल मृगेन्द्र सदृश, अखिल अद्वय (अद्वैत) शब्द को सुने हुए, छंद-अलंकार-काव्य-तर्क आदि के पठन-पाठन की सामर्थ्य रखने के कारण फैली हुई कीर्त्तिलता से वंग-अंग-तैलंग-गुर्जर-नवसहस्र दक्षिण वागवर आदि देश-रूपी मंडप को आच्छादित करनेवाले,(?) महावादीश्वर, श्रीमूलसंघ के शृंगारहार, श्रीवादिचंद के पट्ट-रूपी उदयाचल पर बालसूर्य के समान, त्रिभुवन के जनों को आह्लादित करनेवाले, प्रखर बुद्धि और निपुणता के कारण एक नवीन वादिश्रेष्ठ, सम्पूर्ण पृथ्वी के बड़े से बड़े भूभाग के महान् महीपतियों से पूजित श्रीमहीचन्द्र भट्टारक के ॥३०॥

उनके पट्ट-स्वरूप उदयगिरि पर (उदित) बालभास्कर, विद्वानों की सभा के भूषण, मिथ्यामत के खण्डन में पण्डित, परमत के वादी-रूपी प्रचण्ड पर्वत को तोड़ने में श्रेष्ठ वज्र के समान, भव्य जन-रूपी कुमुद वन को विकसित करने के लिए चन्द्रमा, धर्मस्वरूप अमृत

वर्षणमेघानां लघुशाखाहुवडकुलशृंगारहारडिल्लीगुर्ज्जरसिंहासनाधीशबलात्कारगण-विरुदावलीविराजमानभट्टारकश्रीमेरुचन्द्रगुरूणाम् ॥३१॥

सकलसिद्धान्तप्रतिबोधितभव्यजनहृदयकमलविकाशनैकबालभास्कराणां दश-विधधर्मोपदेशनवचनामृतवर्षणतर्प्पितानेकभव्यसमूहानां श्रीमन्मेरुचन्द्रपट्टोद्धरण-धीराणां श्रीमछीमूलसंघसरस्वतिगच्छबलात्कारगणविरुदावलीविराजमानभट्टारक-वरेण्यभट्टारकश्रीजिनचन्द्रगुरूणां तपोराज्याभ्युदयार्थं भव्यजनैः क्रियमाणे श्रीजिननाथाभिषेके सर्वे जनाः सावधाना भवन्तु ॥३२॥

को बरसाने में मेघतुल्य, लघु शाखा के हुवड़ कुल के शृंगारहार, दिल्ली और गुजरात के सिंहासनाधीश, बलात्कारगण की विरुदावली में विराजमान भट्टारक श्रीमेरुचन्द्र गुरु के ॥३१॥

सम्पूर्ण सिद्धांतों द्वारा ज्ञानवान् बनाये गये भव्यजनों के हृदय-कमल को विकासित करने में एकमात्र बालसूर्य, दशविध धर्मों के उपदेश-वचनामृत की वृष्टि से अनेक भव्यसमूह को तृप्त करनेवाले, श्रीमेरुचन्द्र के पट्ट का उद्धार करने में धीर, श्री मूलसंघ 'सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण की विदरुावली में विराजमान, भट्टारकों में श्रेष्ठ, भट्टारक श्री जिनचन्द्र गुरु के तपोराज्य के अभ्युदय के लिए भव्यजनों द्वारा किये जानेवाले श्रीजिननाथ के अभिषेक में सभी लोग सावधान होवें ॥३२॥

यह गुर्वावली समाप्त हुई ।*

* श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जी जैन द्वारा प्रेषित ।

अनुवादक—पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ ।

समीक्षा

षड्खण्डागम—'धवला' टीका और उसके हिन्दी-भाषानुवाद-सहित (प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' का 'क्षेत्र-स्पर्शन-कालानुगम' नामक चतुर्थ अंश)। मूल रचयिता—भगवान् पुष्पदन्त, भूतबलि; धवलाटीकाकार—वीरसेनाचार्य; सम्पादक—प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम० ए०, एल्-एल्०बी, संस्कृताध्यापक किंग एडवर्ड कॉलेज, अमरावती; सहसम्पादक—पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशक—श्रीयुत सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक-फण्ड कार्यालय, अमरावती (बरार); वीरनिर्वाण-संवत् २४६८; पुस्तकाकार का मूल्य १०); शास्त्राकार का मूल्य १२)।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणित का खुलासा ज्ञान कराने के लिये उपयोगी २० चित्र दिये गये हैं, जिनसे लोक आदि के गणित का ज्ञान आसानी से हो सकता है। इसकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में लिखी गई है। अंग्रेजी प्रस्तावना लखनऊ विश्वविद्यालय के गणिताध्यापक डा० अवधेशनारायण सिंह की है। आपने इसमें धवला में आये हुए गणितशास्त्र का विशद विवेचन किया है तथा यह भी सिद्ध किया है कि हिन्दू गणितज्ञ, आर्यभट्ट, से भी पूर्व जैनियों का गणितशास्त्र उच्च कोटि का था। जैनाचार्य रेखागणित, बीजगणित और अङ्कगणित से भली-भाँति परिचित थे। आपने संख्यात, असंख्यात और अनन्त के प्रतिपादक गणित का विवेचन वासना (उपपत्ति)-पूर्वक किया है। इसके अर्द्धच्छेद, त्रिकच्छेद, चतुर्थच्छेद आदि गणित की वासना का विवेचन गणितज्ञों के लिये विशेष मनोरञ्जक है। हिन्दी-भूमिका में 'सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार' इस विषय को अनेक ग्रन्थों से प्रमाण देकर स्पष्ट किया है तथा अन्त में यह सिद्ध किया है कि षड्खण्डागम को अध्ययन करने का गृहस्थ को अधिकार है। आगे ग्रन्थ के विषय का ज्ञान कराने के लिये संक्षेप में क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम और कालानुगम का वर्णन किया है। इस भाग में गणित-सम्बन्धी कई नवीन बातों का कथन किया है।

अनुवाद करने में ग्रन्थ के मूल गणित-सूत्रों के केवल अर्थ और उदाहरण ही दिये गये हैं। यदि इन्हीं सूत्रों की उपपत्ति (वासना) भी दी जाती, तो यह विषय सिर्फ सिद्धान्त जाननेवालों के लिये ही उपयोगी सिद्ध नहीं होता, बल्कि गणितज्ञों के लिये भी लाभदायक हो जाता तथा इससे जैन-गणित का और भी अधिक गौरव प्रकट होता।

पृष्ठ ४२ पर दिया गया परिधि ज्ञात करने का करणसूत्र अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और यह आधुनिक प्राप्त सभी करणसूत्रों से भिन्न है। पृ० १५२ पर चन्द्रसंख्या, सूर्यसंख्या,

ग्रहसंख्या, नक्षत्रसंख्या और तारा-संख्या का विषय भी गणित जाननेवालों के लिये मनोरञ्जक है। धवलाकार ने गणित में काफी श्रम किया है। जिन गणित नियमों को आधुनिक वैज्ञानिक भी स्थूलता से सिद्ध कर पाये हैं, उन गणित नियमों को जैनाचार्यों ने अति प्राचीन काल में भी अपने सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा सिद्ध कर लिया था। पृ० १९५ पर दिये गये लवणसमुद्र, कालोदधिसमुद्र और पुष्करवरसमुद्र आदि की बाह्य और अभ्यन्तर सूची लानेवाले गणित-सूत्र भी महत्त्वपूर्ण है। गणित की दृष्टि से इनकी उपपत्ति त्रिकोण-मिति से सिद्ध हो सकती है। पृ० ३१८ पर दिन के १५ मुहूर्त्तों के नाम निम्न प्रकार बताये हैं:

(१) रौद्र (२) श्वेत (३) मैत्र (४) सारभट (५) दैत्य (६) वैरोचन (७) वैश्वदेव (८) अभिजित् (९) रोहण (१०) बल (११) विजय (१२) नैऋत्य (१३) वारुण (१४) अर्यमन् (१५) भाग्य। रात्रि मुहूर्त्तों का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है—

(१) सावित्र (२) धुर्य (३) दात्रक (४) यम (५) वायु (६) हुताशन (७) भानु (८) वैजयन्त (९) सिद्धार्थ (१०) सिद्धसेन (११) विक्षोभ (१२) योग्य (१३) पुष्पदन्त (१४) सुगन्धर्व (१५) अरुण।

इस प्रकार से दिन और रात्रि के पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त्त निश्चित किये हैं। अन्य ज्योतिष-ग्रंथों में भी दिन-रात्रि के पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त्त पाये जाते हैं। परन्तु इन मुहूर्त्तों के नाम अन्यत्र आये हुए ज्योतिष-ग्रन्थों के नामों से सर्वथा भिन्न हैं। तिथियों के नाम तथा उनके स्वामियों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में निम्न प्रकार से किया हैं, नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा इस प्रकार ये पाँच तिथियाँ बताई गई हैं। इनके देवता क्रम से चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, आकाश और धर्म होते हैं। इस उल्लेख में तिथियों के नाम तो अन्य जगह आये हुए ही हैं, परन्तु उनके देवताओं के नाम हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों में आये हुए देवताओं के नामों से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार से इस प्राचीन ग्रन्थ में अनेक ज्योतिष-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों का समावेश है। अनुवाद अच्छा हुआ है। ग्रन्थ उपयोगी हैं, सब किसी को मन्दिर और शास्त्र-भाण्डारों के लिये मंगाकर जैनसाहित्य का उद्धार करने में सहायक होना चाहिये।

—नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री।

[२]

कन्नड नाडिन कथेगलु—लेखक: श्रीनारायण शर्मा; प्रकाशक : कर्नाटक इतिहास-संशोधक-मण्डल, धारवाड़ ; मूल्य : सामान्य प्रति का ।।।), विशिष्ट प्रति का १); सन् १९४० ; मुद्रण आदि चित्ताकर्षक।

इस संग्रह में शर्माजी ने कर्णाटक के चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाले ५५ शब्द-चित्रों को ऐतिहासिक आधार पर ललित भाव एवं सरल शैली में सुंदर ढंग से चित्रित करने का सफल

प्रयास किया है। इन कथाओं से विद्यार्थियों को कर्णाटक के राजकीय, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा कला-कौशल-सम्बन्धी परिज्ञान आसानी से हो सकता है। साथ ही साथ इनके अध्ययन से बालकों के कोमल हृदय में कर्णाटक-संस्कृति का अभिमान भी जाग उठेगा। इस साहित्यिक सेवा के लिये शर्माजी वास्तव में धन्यवाद के पात्र हैं। ऐतिहासिक प्रस्तावना में कर्णाटक में शासन करनेवाले प्रायः सभी राजवंशों का संक्षिप्त परिचय देकर इन्होंने कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होय्सल, यादव, विजयनगर, पालेयगार, बहमनी, कोड़गु, मैसूरु इन राजवंशों के प्रधान-प्रधान व्यक्तियों एवं कर्णाटक की लक्ष्मम्म, सोमलादेवी, चेन्नम्म, ओबव्व आदि वीराङ्गनाओं की साहस-पूर्ण कथाओं को चित्ताकर्षक शैली में चित्रित किया है। इसमें रामानुजाचार्य, बसवेश्वर, पुरन्दरदास, कनकदास, विद्यारण्य आदि कर्णाटक के सुप्रसिद्ध धार्मिक महापुरुषों की जीवनियाँ भी सम्मिलित की गई हैं। प्रस्तुत संग्रह में महाकवि पंप, वीर चामुण्डराय, सल, सोमलादेवी आदि कतिपय जैन वीर-वीराङ्गनाओं की जीवनियाँ भी गर्भित हैं। पुस्तक उपयोगी है; इस विषय में किसीका मतभेद नहीं हो सकता। हाँ, कतिपय काल-निर्णयों पर अवश्य मतभेद हो सकता है। साथ-ही-साथ इस कार्य के लिये अपनाये गये आधार ग्रंथों में सभी ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं है। अतः इसे शुद्ध ऐतिहासिक कहना ठीक नहीं होगा। फिर भी ग्रन्थकर्त्ता का उद्देश्य आदरणीय है। एक परिशिष्ट के अतिरिक्त तीन ऐतिहासिक नक्शा और उन्नीस सुन्दर चित्र भी इसमें दिये गये हैं। इन चित्रों में श्रीबाहुबली, महाकवि पंप आदि का चित्र भी शामिल है। इस उपयोगी पुस्तक को प्रकाशित करनेवाला कर्णाटक इतिहास-संशोधक-मण्डल, धारवाड़ भी विशेष धन्यवाद का पात्र है।

—के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

[३]

चित्रसेनपद्मावतीचरित्रम्—रचयिता—श्री बुद्धिविजय; संपादक और प्रकाशक—श्रीमूलराज जैन, एम०ए०, एल्-एल्-बी०, [जैन विद्याभवन, कृष्णनगर, लाहौर; मूल्य १।); छपाई-सफाई बढ़िया।

इस ग्रन्थ की आलोचनात्मक भूमिका सम्पादक ने अंग्रेजी में स्वयं लिखी है। इन तीस पृष्ठों में सभी आलोच्य विषय बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादित हुए हैं। प्रस्तावना के अन्तिम पृष्ठों में अनुसन्धानात्मक और व्याकरण-सम्बन्धी विवरण विद्वत्तापूर्ण है। सन्मान, सन्मानिता, सन्मुख आदि शब्दों को एक साधारण शुद्धि-पत्र में देकर काम चल सकता था, पर पूरे-पूरे अंग्रेजी के वाक्यों द्वारा ये शुद्ध किये गये हैं। फिर भी कुछ अशुद्धियों का संकलन नहीं हो पाया है और न कोई संकेत ही किया गया है। ४६वें श्लोक में 'शुश्रावं' छप गया है।

८५ वें श्लोक में 'विमोहित' पद का उपसर्ग व्यर्थ ही छन्दोभंग दोष ला रहा है। ग्रंथकार ने कथा के सिलसिले में कई संस्कृत और प्राकृत पद्य ऐसे रक्खे हैं जो अन्यकर्तृक हैं। ग्रन्थकार ने तो प्रासंगिकता लाकर सुन्दरता से खपाया है, पर संपादक का कर्त्तव्य था कि कुछ संकेत करते। अस्तु, संपादन बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

ग्रन्थकार के सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना नहीं है। अन्य कथाओं की तरह इस कथा में भी कुछ ऐसी विलक्षण बातें जोड़ी गई हैं, जो कि प्राचीन कथाकारों का एक ढंग था। लोकरुचि की रक्षा के लिये पुत्र पर राजा का नाराज होना, चित्रसेन का गृहत्याग, मन्त्रि-पुत्र की निःस्वार्थ मैत्री आदि बातें इस ग्रन्थ में उच्च और बेजोड़ हैं। काव्य आशुबोध होने से प्रवाहपूर्ण है। पुस्तकालयों में ग्रन्थ अवश्य रखने के योग्य है।

सम्पादक के परिश्रम के ख़याल से तो नहीं, पर आकार-प्रकार के लिहाज से ग्रन्थ का मूल्य अधिक है।

—कमलाकान्त उपाध्याय
व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ।

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा, का संक्षिप्त वार्षिक विवरण

(१३-५-४१—१८-६-४२)

वीर-संवत् २४६७ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर संवत् २४६८ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ६००० व्यक्तियों के हस्ताक्षर हुए हैं। प्रमाद अथवा अज्ञानता-वश हस्ताक्षर नहीं करनेवाले सज्जनों की संख्या भी इससे कम नहीं है।

विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं :

श्रीयुत पं० बनवारीलाल शास्त्री, देहली; श्रीयुत बाबू बैजनाथ जैन एडवोकेट, पटना; श्रीयुत डा० दासगुप्ताचार्य हिन्दू-विश्व-विद्यालय, बनारस; श्रीयुत बाबू पद्मराज जैन, मंत्री हिन्दू महासभा, कलकत्ता; श्रीयुत बाबू गोपालकृष्ण महाजन एम० ए०, संयुक्तमंत्री, मन्नूलाल पुस्तकालय, गया; श्रीयुत बाबू ब्रजभूषण शरण एडवोकेट, मथुरा; श्रीयुत सेठ गोपीचन्द ठोलिया, जयपुर; श्रीयुत बाबू एम० बी० महाजन, एडवोकेट, अकोला; श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय, बनारस तथा संपादक 'जैन-सन्देश' मथुरा; श्रीयुत प्रोफेसर खुशालचन्द शास्त्री, एम० ए०, साहित्याचार्य, विद्यापीठ, काशी; श्रीयुत बाबू शान्तिमय वन्द्योपाध्याय, एम० ए०, एल० टी०, मिजापुर। इन विद्वानों ने अपना बहुमूल्य शुभ सम्मतियों के द्वारा भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रहादि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की हैं।

सर्वसाधारण को भवन से पुस्तकें घर ले जाने को नहीं मिलती हैं, अतः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके सिवा विशेष नियम से कुछ खास-खास व्यक्तियों को घर ले जाने को जो पुस्तकें दी गई हैं, उनकी संख्या २८२ है। इन पुस्तकों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त मद्रास, मङ्गलूरु, सोलापुर, काशी, मथुरा, मोरेना, बड़ौदा आदि स्थानों के विद्वानों ने भी लाभ उठाया है।

इस साल मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं कन्नड आदि भारतीय भिन्न-भिन्न भाषाओं की चुनी हुई ३२५ तथा अंग्रेजी की ३०, कुल ३५५, पुस्तकें भवन में संगृहीत हुई हैं।

पुस्तक भेंट देनेवालों में श्रीमती पं० सितारासुन्दरी देवी, काव्यतीर्था, आरा; गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लायब्रेरी, मैसूरु; आर्किओलाजिकल मैसूरु; विश्वविद्यालय मैसूरु; श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बई; मंत्री कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर; श्रीयुत पं० बनवारी लाल

शास्त्री, देहली; श्रीयुत खुशालचन्द कोदरजी, फलटन; श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, आरा; श्रीयुत उग्रसेन, एम० ए०, मथुरा; मंत्री जैनमित्र मण्डल, देहली; श्रीयुत पं० मुक्तिनाथ मिश्र, आरा; श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल जैन, अमरावती; विश्वविद्यालय मद्रास; श्रीयुत पं० मक्खनलाल शास्त्री मोरेना के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रकाशन-विभाग में 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर', प्रशस्ति-संग्रह आदि का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा है। बल्कि 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है। बड़े-बड़े जैनेतर विद्वान् भी इसे बड़े चाव से पढ़ते हैं। इसके लिये निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र-पत्रिकाओं का परिवर्तन में आना ही एक ज्वलन्त उदाहरण है:

अंग्रेजी के: (1) The Indian Culture, (2) The Indian Historical Quarterly, (3) Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, (4) The Journal of the University of Bombay, (5) The Karnatak Historical Review, (6) The Adyar Library Bulletin, (7) The Journal of the Annamalai University, (8) The Poona Orientalist, (9) The Journal of the United Provinces Historical Society, (10) The Quarterly Journal of Mythic Society, (11) The Punjab Oriental Reasearch Quarterly Journal, (12) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, (13) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bombay, (14) The Fergusson College Magazine, (15) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, (16) The Journal of the Benares Hindu University, (17) The Andhra University Colleges Magazine and Chronicle, (18) The Journal of the Sri Venkateswara Oriental Journal of the Sind Historical Society (19) The Journal of the Tanjore Institute, (20) The Sarasvathi Mahal Library, (21) The Jaina Gazette.

हिन्दी के: (१) नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, (२) भारतीय विद्या, (३) प्राचीन भारत, (४) साहित्य-सन्देश, (५) अनेकान्त, (६) साहित्य-सम्मेलन-पत्रिका, (७) किशोर, (८) वैद्य; (९) धर्मदूत, (१०) जैन महिलादर्श, (११) दिगम्बर जैन, (१२) बालकेसरी, (१३) जैन प्रचारक (१४) जैन बोधक, (१५) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु, (१६) वीर, (१७) भारतीय समाचार, (१८) जैन सन्देश, (१९) जैन मित्र, (२०) जैन गजट।

संस्कृत के : (१) मैसूरुमहाराजसंस्कृतमहापाठशालापत्रिका, (२) सूर्योदय।

कन्नड के : (१) कन्नड साहित्य-परिषत्पत्रिका, (२) प्रबुद्ध कर्नाटक (३) साहित्य समिति पत्रिके (४) जय कर्नाटक (५) अध्यात्मप्रकाश (६) शरण साहित्य (७) विवेकाभ्युदय (८) वीरवाणि (९) सुदर्शन।

तेलगु का : (१) आन्ध्र-साहित्य-परिषत्पत्रिका।

गुजराती का : (१) सुवास।

इनके अतिरिक्त भवन में (१) विशालभारत, (२) सरस्वती, (३) राष्ट्रवाणी भी मूल्य से मँगाई जाती हैं।

ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी
वीर संवत् २४६८।

मंत्री :
जैन-सिद्धान्त-भवन

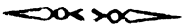

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ९—वि० सं० १९९९, वीर० सं० २४६९

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३)　　विदेश में ३॥)　　एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४२

विषय-सूची

		पृष्ठ
१	उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख—[श्री बाबू कोमताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०	५२
२	उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख—[श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०	७६
३	केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री	८१
४	गुजराती भाषा में दिगम्बर-साहित्य—[श्रीयुत बाबू आगरचन्द नाहटा ...	३९
५	जैन-सिद्धान्त-भवन और तत्सम्बन्धी कार्यप्रणाली का दर्शन—[श्री बाबू पद्मराज जैन	२९
६	जैनधर्म का महत्त्व—[श्रीयुत प्रो० देवराज, एम० ए०, डी० फिल० ...	७२
७	तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)—[श्री प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०	४४
८	तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक—[श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए० ...	९७
९	पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'—[श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे ...	८४
१०	मन्दिरों एवं मूर्त्तियां की उत्पत्ति—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण	६५
११	"मोक्षमार्गस्य नेतारम्"—[श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी ...	९
१२	राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष की जैनदीक्षा—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम०ए०, एल-एल० बी०	१
१३	विरुदावली—[अनु० श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ	१०८
१४	वैदिक एवं जैनधर्म में समानरूप से या कुछ हेरफेर से पाये जानेवाले कतिपय पद्य —[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण	९६
१५	शाकटायन और उनका शब्दानुशासन—[श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी ...	१८
१६	श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम—[श्रीयुत बाबू कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०	३५
१७	श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०	९१
१८	सर्वार्थसिद्धि के शकयवनादि शब्द —[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण	३४
१९	हमारा आयुर्वेद—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...	१४

पृष्ठ

२० समीक्षा—(१) कन्नड नाडिन कथेगलु—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १२१
(२) चित्रसेनपद्मावतीचरित्रम्—[श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ १२२
(३) जैनझंडा-गायनसंग्रह—[श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य ६०
(४) जैनधर्म में दैव और पुरुषार्थ—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ६२
(५) तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ६३
(६) पञ्चमकर्मग्रन्थ—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण ... ५७
(७) पुराण और जैनधर्म—[श्रीयुत पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ ६१
(८) बनारसी-नाममालाः—[श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य ५८
(९) महावीरवाणीः—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... ५८
(१०) षड्खण्डागम—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री १२०

THE JAINA ANTIQUARY

VOL VIII. DECEMBER, 1942. No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3, Foreign 4*s*. 8*d*. Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS.

		Pages.
1.	A Fragmentary Sculpture of Neminātha in the Lucknow Museum—By Dr. Vasudeva S. Agrawala M.A., Ph.D., Curator, Lucknow Museum	45—49
2.	Nārāyanas, Pratinārāyans and Balabhadras—By Dr. Harisatya Bhattacharya, M.A., B L., LL.D. ...	50—56
3.	Magic and Miracle in Jaina Literature—By Kalipada Mitra, M. A., B. L.	57—68
4.	Prākrit Studies : Their Latest Progress & Future—By Dr. A. N. Upadhye M. A. D. Litt.	69—86
5.	The Jīvānuśasana vṛtti of Devasūri and its date A.D. 1105.—By K. Madhava Krishna Sarma, M.O.L., Curator, Anup Sanskrit Library and Director of Oriental Publications, Bikaner.	87—88

Baladeva serving as an attendant in a Neminatha Image.
Guptā Period, J. 89 Lucknow Museum.

Om

The JAINA ANTIQUARY

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. VIII
No. II

ARRAH (INDIA)

December,
1942

A FRAGMENTARY SCULPTURE OF NEMINĀTHA IN THE LUCKNOW MUSEUM.

By

Dr. Vasudeva S. Agrawala, M.A., Ph. D., Curator, Lucknow Museum

The Provincial Museum, Lucknow has a large number of sculptures unearthed from the Kankali Tila Mathura in 1890-93. A majority of them is to be assigned to the Kushāṇa and Gupta periods There was at the site of Kankali Tila an ancient Jaina *Vihāra* and a *Stūpa* which in an inscription found from the place is described as the *Devanirmita Stūpa* (Ep. Ind. II., 20). A history of this Stūpa is contained in the ancient work entitled '*Vividha-Tīrthakalpa*" by Jina-Prabha Sūri. Recently Dr. Handiqui informed me that a legendry account of this Stūpa is also contained in the Yaśasatilaka Champū of Somadeva Sūri written in the tenth century. On page 315 of the Second Volume of this book (published in the Kavyamālā Series, Bombay, 1903) it is stated that the Stūpa at Mathura was designated as *Devanirmita* and was adorned by images of the Arhats :—

मथुरायां चक्रचरणं परिभ्रमय्य अर्हत्प्रतिबिम्बाङ्कितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत् ।
अतएव अद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते ।*

*I owe this reference to the kindness of Dr. R. K. Handiqui of Jorhat College, Assam.

This literary testimony is of great value as confirming an ancient tradition recorded on stone regarding the name of the great Jaina establishment at the site of Kankali Tila. The sculptures in themselves are the earliest specimens of Jaina iconic art and have special value as throwing light on the beginnings of Jaina iconography in North India. We have amongst them inscribed images of Tīrthamkaras and their attendant beings as well as of subsidiary gods and goddesses of the Jaina pantheon. For example, the images of Sarasvatī, Naigameśa and Āryavatī are of very great importance for a history of early Jaina religious worship. The last sculpture mentioning Āryavatī in the inscription on it appears to represent the royal lady Triśalā with her attendants holding *chhatra* and *chamara*, both being emblems of royalty Āryavatī appears to be but an honorific name and no independent goddess so styled seems to be intended.

The images of Tīrthamkaras reveal several points of interest. Firstly the distinctive marks by which the Jaina Tīrthamkaras are distinguished from one another in later times are conspicuous by their absence in the Kushāṇa and Gupta periods. Therefore, the cognizance marks (*lañchhanas*) seem to have emerged as regular iconographic features during the post-Gupta period. Secondly, the early sculptors in the absence of special marks distinguished one Tīrthamkara from another by engraving the saint's name on the pedestal. This device was inevitable in view of the cult of each Tīrthamkara claiming its own devotees who wished to immortalize their piety by dedicating images of that particular Tīrthamkara who was the object of their veneration. Thus a pious lay woman who calls herself wife of Suchila (an old contracted form for Sanskrit Śuchidatta or Śuchirakshita) dedicated an image of Śāntinātha. Similarly Jayā, devoted to the female desciple of Ārya Balatrāta, mother of a prosperous family, donated a colossal image of Vardhamāna. Mitraśrī established an image of the Tirthamkara Arishṭanemi, and the female lay worshipper Dattā (an abbreviated name form of Devadatta) dedicated an image of the Arhat Nāndyāvarta (*i. e.* Aranātha, the eighteenth Tīrthamkara) in the Stūpa called *Devaniramita*, (Ep. Ind., II. 204). A full detailed study of all the Tīrthamkara images is needed to present as complete a picture as

possible of the religious affiliations of the Jaina church and the lay community settled at Mathura during the early centuries of the Christian era.

In the Tirthamkara images there is, however, some evidence pointing to the early conception of distinctive marks in respect of a few Jaina pontiffs. For example, we find that some images are characterized by a conopy of snakehoods, and on this account they were usually understood by the worshippers as representing Supārśva or the twenty-third Tirthamkara Pārśvanātha. Similarly on some images we find locks of hair falling on both shoulders, a mark to distinguish the saint as Arhat Ṛishabhanāth, the bull, his symbol in later Jaina iconography, being absent.

Of greater interest still is a class of images in which the Tirthamkara is sought to be distinguished by means of his attendants. These represent the Tirthamkara Neminātha whose attendants may at once be recogonized as Bāladeva and Vāsudeva who are in Brahmanical books more popularly known as Balarāma and Kṛishna. According to the *Kalpasūtra* Bāladeva and Vāsudeva were the brothers of the twenty-second Tirthamkara Neminātha. The Harivaṁśa dynasty to which they all belonged is said to have come into existence in the time of the tenth Tirthamkara Śitalanātha. A clear example of such images is that illustrated on plate 98 of the *Jaina Stūpa of Mathurā* by V. A. Smith, found from the Kankali Tila and now deposited in the Lucknow Museum. Besides the four armed images of Balarāma and Krishna, there is also carved on it the subsidiary figure of Yakshiṇī Ambikā on lion definitely marking the Tirthamkara as Neminātha. This sculpture should be ascribed to the early medieval period on the basis of its style. I have already described it in greater detail in a previous article published in this Journal*. Another image which is stylistically to be ascribed to the early Gupta period (No. 2502, Mathura Museum) shows Neminātha with his two divine attendants treated in a more unsophisticated manner and keeping nearer to the canons of early Brahmanical

*Some Brahmanical Deity in Jaina Religious Art, *Jaina Antiquary*, Vol. III, pages 83-92.

iconography. The Yakshiṇī Ambikā was originally absent from Neminātha images and seems to have been invoked for purposes of iconography as an afterthought in the early mediaeval period. The two attendant figures of Kṛishna and Balarāma were considered signs enough for the identity of the Tīrthaṁkara intended to be shown.

There is another fragmentary sculpture of red sandstone from the Kankali Tila (J. 89 in the Lucknow Museum) which is of special interest in respect of the iconographic features of one of the attendant figures viz. Balarāma. The existing fragment consists of the upper right portion of a Tīrthaṁkara image which represented Neminātha. The main figure is lost except for a portion of the halo which is of the full-blown lotus variety familiar to us in other Gupta sculptures. The attendant four-armed figure of Balarāma has a hooded canopy of serpent hoods on the head, a club or *muṣala* in upper right hand and the lower right hand is shown as usual raised above the head. The lower left hand is held akimbo and the other hand partly broken, is placed on the surviving symbol which it grasped and which imparts to the sculpture an unusual interest. The symbol consists of a lion surmounting a standard. In the usual course we should have expected a plough as the symbol in this hand of Balarāma. The lion is an exceptional feature substituted for the plough. A plough is called *lāṅgala* in Sanskrit literature and there is not yet sufficient evidence to say why a plough was substituted by a lion. We have in the Mahabharata a technical term *Siṁha-lāṅgūla dhvajāgra* to designate a banner with a lion. It is said in the Droṇaparvan where the banners of the leading warriors are described that Aśvatthāmā had a standard with a *siṁha lāṅgūla* as its ensign :–

तथैव सिंहलांगूलं द्रोणपुत्रस्य भारत ।
ध्वजाग्रं समपश्याम बालसूर्यसमप्रभम् ॥ द्रोण० १०५।१०

This is repeated in the Bhīshmaparvan 17. 21),

अश्वत्थामा ययौ यत्तः सिंहलांगूलकेतुना ।

The banner of Arjuna bore the figures of a monkey with a grotesque face and the hind part of a tailed lion (सिंहलांगूलमुग्रास्यं ध्वजं वानरलक्षणम् ।

Dronaparvan, 105. 8) In another Balarāma sculpture of the early Kushāṇa period, now preserved in the Bharat Kala Bhawan, Benares, the lion standard also occurs in place of the plough But in the image of Balarāma from village Junsuti near Govardhana in Mathura District now preserved in the Lucknow Museum, Balarāma holds in his two arms the *musala* and the *hala* respectively. This image is to be placed in the Śuṅga period about the second century B. C., and is on that account the earliest Brahmanical image of this deity known so far.* It appears, therefore, that the introduction of the lion capital standard in place of the original plough (*lāṅgala*) took place somewhere about the first century A D. In another image now preserved in the Mathura Museum (No. C. 19) and dateable in the Kushāṇa period the feature of the lion standard also occurs. In the descriptions of Balarāma I have not yet come across any literary reference describing this particular feature of a lion standard or सिंहलांगूलध्वजाङ्क as we may call it. The artist who was fashioning the above image of Neminātth for a Jaina patron of his in the Gupta period seems to have incorporated the *simha dhwajagra* feature from a current and a well-understood formula of Balarāma iconography prevailing during the Kushāṇa and Gupta periods. A reference from Jaina literature regarding this particular feature will therefore be very welcome.

---

* For an illustration and account of this image see Journal of Indian Socy. of Oriental Art., Vol. V, p. 126.

NĀRĀYANAS, PRATINĀRĀYANAS AND BALABHADRAS.

BY

Dr. Harisatya Bhattacharya M.A., B.L., LL. D.

(*Continued from Vol. VIII No. I, page 40.*)

These two kings thereupon left their kingdom unnoticed by all; it was given out in their respective cities that they were too ill to appear before the public and to guard against all possibilities of the real state of affair being found out, two life-like images of the two kings were kept laid on royal beds in the palaces. Bibhishaña sent assassins who cut off the heads of these images. These heads, presented before Rāvaña, removed all his fears.

Another episode in the Jaina version of the Rāma-story is the beautiful account of Bhāmandala. King Janaka is said to have had twin children, Sītā and a son by his queen, Bidēhā. Now, a superhuman being had a grudge against the infant son of king Janaka in his previous birth. To "feed fat this ancient grudge," this superhuman being took away the infant prince as soon as he was born; but on his way, he was suddenly apprised of the wickedness of his act and he left the infant with Chandragati, king of Ratha-nupura. Chandragati and his queen liked the beautiful child very much and began to rear him up as their own son. They called him Bhā-mandala.

Bhāmandala, when he came of age, heard of the be-witching looks of Sītā. He did not know that Sītā was his sister and so he wanted to marry her. His father asked Janaka to give his daughter in marriage to Bhāmandala, but Janaka had already settled to marry Sītā to Rāma. Matters came to such a pass that even when Chandragati withdrew his objections to the marriage of Sītā with Rāma, Bhāmandala came out to fight with Rāma. When, however, he reached Vidarbha, he suddenly remembered that Sītā was his sister. So, he gave up his intention to fight and gladly joined the marriage celebration of Rāma with Sītā.

In the Jaina account, we come across many stories about Lakshmaña. While in forest with Rāma and Sītā, he defeated the king Singhōdara and gave away to Bajrakaraña, a pious worshipper of the Jina, half of the kingdom of Singhōdara. He rescued Balyakhilya, king of Nalakubara, from the non-Aryan Bhīlas. His daughter Kalyanamālā became enamoured of Lakshmaña. He rescued also Banamālā daughter of the king Prīthvīdhara who was about to commit suicide as her father had arranged her marriage with a prince other than Lakshmaña whom she loved secretly. He is said to have gone to various cities and married many princesses.

In the Jaina Purāñas, Hanumān is otherwise called Śrī-Śaila and he is looked upon as a Kāma-dēva, i.e., of a higher order of mortals and of exceptionally strong frame.

Bisides the above additions, we meet with various other alterations of the Rāma-story in the Jaina Purāñas For example, regarding the promise of Daśaratha to give boons to Kaikēyī in future, the Jaina story is slightly different. King Daśaratha did not promise the boons because, as the Rāmāyaña of the Vēdic school says, Kaikēyī nursed him when he got wounded in a terrible fight against the demons The Jainas say, on the contrary, that while wandering from countries to countries incognito to delude Rāvaña and his men, Daśaratha reached the kingdom of Kaikēyī's father, where he heard that the beautiful princess was to choose her husband from among the renowned princes of the day assembled there for the purpose. Daśaratha attended the assembly and Kaikēyī's choice fell upon him. Thereupon, the disappointed princes attacked Daśaratha in rage. Daśaratha, however, was quite a match for them. Princess Kaikēyī too was a bold and skilful lady She acted as the charioteer and led the chariot of Daśarath dexterously in the battle-field,—just as Subhadrā (as described in the Vēdic Purañas) did on a similar occasion, when her suitor Arjuna was taking her away. To Kaikēyī's skill in chariot-driving Daśaratha owed his victory that day to a great extent and in fond gratitude, he offered to fulfil any boon that she might ask of him. Kaikēyī, however, said that she would let him know her wish on a suitable future occasion Daśaratha promised

to fulfil her prayer whenever she would make it. She wanted Rāma's exile and Bharata's installation to throne of Ayōdhyā as the boon, when Daśaratha was about to make Rāma king and the poor king had to consent to it.

Then, as regards the marriage of Rāma with Sītā, the Jaina account is widely different from Vālmīki's. It is not the sage Visvāmitra who took Rāma to the hermitage for the purpose of killing Tārakā. We do not also find the story of Rāma's breaking the mighty bow of the Lord Śiva to win the hands of Sītā. The Jaina account says that Antarangala, the half-civilised Mlechchha (non-Aryan) king of Mayuramala attacked the kingdom of Janaka with a great army. Janaka was frightened and sought the aid of his friend, king Daśaratha, who sent his sons Rāma and Lakshmaña to drive away the non-Aryan hordes. The two brothers signally defeated Antarangala who fled away. King Janaka out of gratitude proposed to marry his daughter Sītā to Rāma and Daśaratha agreed to it. The sage, Nārada, however, heard of the far famed beauty of Sītā and wanted to see her. He entered the room where Sītā was looking at her face in a mirror. On the mirror, the ugly face of the sage, covered with long hairs and beards was suddenly reflected, which frightened the princess so much that she began to run away with a scream. Nārada was following her when he was stopped by a palaceguard. The sage felt insulted and resolved to create troubles for Sītā. He went to Bhāmandala who did not know that Sītā was really his sister and showed to him a portrait of the princess. Bhāmandala at once got enamoured of her and became eager for marrying her. King Chandragati, his father, came to know this and he had an interview with Janaka. Chandragati requested Janaka to give his daughter in marriage to Bhāmandala, but Janaka openly praised the powers of Rāma and expressed his decision already made, to marry Sīta to Rāma. Thereupon, Chandragati said that he had with him two mighty bows, known as Bajrāvarta and Sāgarāvarta and that they should be raised and used by Rāma and Lakshmaña before he would acknowledge the power of the two princes and allow Sītā to be married to Rāma. Janaka had two bows brought to Mithilā and invited Rāma and Lakshmaña along

with the other princes of the day. A '*Swayamvara*' was arranged and Janaka proclaimed that the prince who would be able to raise the bows would win the hands of Sītā. None of the princes dared to approach any of the bows; for, they were found to emit horrid flames. It was Rāma who lifted up Bajrāvarta quite easily; so did Lakshmaña Sāgarāvarta. Sītā threw the bridal garland around the neck of Rāma.

About the role of Jatāyu-bird as a protector of the exiled princes and Sītā, we came across a different story in the Jaina version. It is said that while in the Dandaka forest Rāma was one day waiting for getting a hungry sage who might oblige him by breaking his fast with the meals to be offered to him, as luck would have it, two such sages, Gupti and Sugupti, who had been fasting for a whole month, were passing that way and they, finding Rāma to be really a good and honest man, gladly ate the meals offered by him. A vulture was sitting on a tree near by; suddenly, however, he came to realise that it was a rare opportunity to have such great sages and he fell down at their feet respectfully. At once the wings of the bird began to glitter as if they were made of gold. The sages, after finishing their meals, took pity on the bird and explained to him the rules of a morally disposed house-holder's life. From that day the bird began to lead a strictly abstemious life. The sage told him to live near Rāma and Lakshmaña. The bird agreed and was thereafter called Jatāyu by Rāma.

The incidents connected with the stealing of Sītā by Rāvaña are slightly different from those stated in Vālmīki's Rāmāyaña. According to the Jaina account, Lakshmaña one day perceived fragrant smell, coming from some unknown quarter. On enquiry, he discovered that it was coming from a beautiful sword, Sūryahāsya (Sun's laugh). To test the sharpness of the sword, Lakshmaña struck it on a cluster of bamboos near by. The bamboo-clump was cut and lo! one Sambooka who was within it, practising penances for the purpose of getting the sword was killed outright. This Sambooka was the son of Khara-Dūshana who had married Chandra-nakhā sister of king Rāvaña of Lankā. Chandra-nakhā used to come every day to her penancing son and feed him.

At the gruesome sight, her grief was boundless and she began to search for her son's slayers. But when she saw Rāma and Lakshmaña, she became enamoured of them. She represented herself before them as a virgin and requested them to marry her. The brothers, of course, scoffed at her offer. In rage, she went to to her husband and told him all about her son's cruel murder. Khara-Dūshaña went out to fight and sent information to king Rāvaña to come and help him.

Thus in the Jaina account, Khara and Dūshaña are said to be one man and he is the husband of Rāvaña's sister. The story of Sambooka is curious. In Vālmīki's Rāmāyaña, there is no such account. It is, of course, well known that there is a story about one Śūdra sage Sambooka's practising severest penances, who was killed by Rāma, after he became king of Ayōdhyā, on the ground that such penances were forbidden to a Sūdra. The present day writers look upon the slaughter of Śambooka as a great blot on Rāma's character. It need scarcely be said that the Jaina account of the killing of Śambooka exonerates Rāma fully from the guilt,—not only because it was not he but Lakshmaña who killed Śambooka, but also because the slaying was purely accidental.

As we have indicated above, according to the Jaina account, it was not Sūrpa-nakhā who induced her brother to take away Sītā. Rāvaña was coming to aid Khara-Dūshaña and it is said that he saw Sītā in the cottage from his air-chariot. He was struck at her beauty and decided to steal her. According to the Jainas, it was Lakshmaña who went to fight with Khara-Dūshaña. Rāma was at home. Rāvaña imitated the voice of Lakshmaña from the direction of the battle-field and Rāma, thinking that his brother was in danger, hastened to help him. Rāvaña took away Sītā in the meanwhile,—thus without the help of a Mārīcha, as according to Vālmīki!

Virādha was a monster, killed by the brothers, Rāma and Lakshmaña, according to Vālmīki. In the Jaina account, we come across one Virādhita, ruler of the kingdom of Pātāla-Lankā, who helped Lakshmaña in his fight with Khara-Dūshaña and who took the

broken-hearted brothers to his city after the abduction of Sītā. We pass by the story.

On coming to the next great point in the Rāma-story viz., the rescue of Sītā,—several remarkable differences between Vālmīki's and Jaina accounts arrest our attention. The first of these is that the Vānaras of Kishkindhyā were, according to the Jainas, of the same race with and fast friends of the people of Lankā. In fact, king Sugrīva is described as a relative of Rāvaña and the high souled Hanumān, as the son-in-law of Khara-Dūshña. Rāvaña and the Rākshasas are not man-eating monsters but are followers of the Jaina faith. Yet, it was with the help of these Vānaras that Rāma recovered Sītā

A somewhat different story is told in the Jaina Purāña about Sugrīva's plight. Bālī was no doubt, his brother but he was a pious Jaina, practising penances, near by Kailāsa. It was not Bālī who drove away Sugrīva and appropriated his wife. The Jaina Purāña says that one Sāhasa-gati with the help of the black art assumed the likeness of Sugrīva and approached Sugrīva's wife when Sugrīva was away. Every one in the palace took Sāhasa-gati as the real king, -so that when the real Sugrīva came, he was instantly repudiated. Sugrīva was now helped by the brothers, Rāma and Lakshmaña, who killed Sāhasa-gati. Pōor Sugrīva thus got back his kingdom and his wife. This Jaina account acquits Bālī, on the one hand, of the shameful charge of living with his brother's wife and Rāma, on the other, of the charge of improperly killing Bālī, who had done no harm to him.

In the Jaina Purāñas, the Vānaras are represented as having at first been afraid of fighting with Rāvaña, who, they said, was a mighty enemy. To expel their fear, Lakshmaña to their amazement, lifted up the huge rock, Kōti-Śilā. This removed all their doubts,—especially because there had been an old prophecy that the lifter of the Kōti-Śilā would be the killer of Rāvaña. It is needless to point out that the Jaina account of the lifting of Kōti-Śilā by Lakshmaña is a parallel to Vālmīki's account of the piercing of the seven Palm-trees by Rāma and other such exploits.

In the Jaina Purāñas we are not told that a bridge had to be built for the passing of Rāma's army. Bibhīshaña, Rāvaña's brother, is admitted to have joined Rāma. His other brother, Kumbhakarña was taken captive. According to the Jaina account Indrajit and Meghanāda were two different persons,– brothers, not sons of Rāvaña. They also were taken captives. The story of Lakshmaña's being hurt with the Śakti-Śēla of Rāvaña finds a place in the Jaina account, but the Jainas give a different account about Lakshmaña's cure. Medicine had not to be brought from the mountain Gandha mādana, as according to Vālmīki The Jāinas say that when Lakshmaña was lying wounded and Rāma was waiting, a man told them that there was a prince named Drōña-mīgha, who was subject to Bharata, the king of Ayōdhyā; the water from the body of Biśalyā, daughter of Drōña-mīgha, when she bathed, would cure the wounds of Lakshmaña. Upon this, Hanumān went at once to Bharata who called Drōña-mīgha. His daughter came to the battlefield with Hanumān in a chariot. Her bathing water cured the wounds of Lakshmaña and of other ailing people. This princess was afterwards married to Lakshmaña.

According to the Jainas, it was Lakshmaña, not Rāma, who killed Rāvaña. Rāvaña was the Prati-Nārāyaña and had the unfailing Chakra with him. He hurled it towards Lakshmaña, but as the latter was the Nārāyaña, the Chakra, instead of hurting Lakshmaña in any way came to Lakshmaña's hands to be used by him. Lakshmaña threw it towards Rāvaña and he was killed instantaneously. This Jaina account of the killing of Rāvaña with his own Chakra has a distant similarity to the story well-known to the followers of the Vēdic school, that Rāvaña was killed by a weapon, known as Mrityu-vāña (death-arrow), which had all along been with him and which, it had been so ordained, would kill him, when thrown by an enemy against him.

To be continued.

MAGIC & MIRACLE IN JAINA LITERATURE

By

Kalipada Mitra, M. A., B. L.

(*Continued from Vol. VIII No. I, page 24.*)

The *Sūyagaḍaṅga* (2. 2. 15) mentions some occult sciences, which people acquired for attaining success, but which are condemned as evil sciences, the practice of which would but result in evil consequences (*te anāriyā vippaḍivannā kālamāse kālaṃ kiccā annayarāiṃ āsuriyāiṃ kibbisayāiṃ ṭhānāi uvavattāro bhavanti*). Some of these are subhagākaraṃ, dubhagākaraṃ, gabbhākaraṃ, mohanakaraṃ, āhavvaṇiṃ, pāgasāsani, dabbahomaṃ, veyāliṃ, addhaveyāliṃ osovaniṃ, tālugghāḍaniṃ, sovāgiṃ, sovāriṃ, dāmiliṃ, kāliṅgiṃ, goriṃ, gandhāriṃ, ovayaṇiṃ, uppayaniṃ, jaṃbhaniṃ, thaṃbhaniṃ, lesaṇiṃ, āmayakaraṇiṃ, visallakaraṇiṃ, pakkamaṇiṃ, antaddhāṇiṃ, āyaminiṃ; *i. e.* " the art to make one happy or miserable, to make a woman pregnant, to deprive one of his wits, incantations, conjuring, oblations of substances, the *vaitālī* and *ardhavaitālī* arts, the art of casting people to sleep, of opening doors, the art of Caṇḍālas, Śabaras, Draviḍas, Kalingas, Gouḍas, and Gandhāras; the spells for making somebody fall down, rise, yawn, for making him immoveable or cling to something; for making him sick or sound; making somebody go forth, disappear or come. They practise wrong science ".[86]

The commentary explains *dabbahomaṃ*[87] as "by flowers such as Kaṇavera, or by honey, ghee etc. working the *uccāṭana* charm" (destroying his enemy[88] or making him disgusted etc.) and "*vaitāḷī nāma vidyā niyatākṣarapratibaddhā, sā ca kila katibhir japaih daṇḍaṃ utthāpayai, tathā ardhavaitālī tameva upaśamayati.*" Jacobi explains, "...the *vaitāl*[i] art teaches to raise a stick (? perhaps to lay a punishment on somebody) by spells, and *ardhavaitālī* to remove it. In Pāli,

86. S. B. E., XIV. P. 366 *Āhavvaṇi* is *atharvaṇī*, commy., sadyo'narthakariṇī vidyā.

87. Cf. *Sumaṅgalavilāsini* pp. 67 ff. *dabbihomaṃ* along with *aggihomaṃ, mukhahomaṃ, lohitahomaṃ* (bloody sacrifice).

88. *Kathākośa* p. 33., *Pārśvanātha*, p. 138.

vetālam means the magic art of bringing dead bodies to life by spells".[89] *Sovagī* is *Śvapākī* or belonging to Caṇḍālas, who play a very important part in magical and *tāntric* rites. *Caṇḍālī vijjā* is mentioned in *Paumacaria* (7, 142) and *Māyaṃgī* in *Āvaśyakacūrṇi* (1) Jacobi takes *sovāriṃ* (Vaidya's edition) or *sovariṃ* (Āgamodaya ed.) to mean 'the art of Śavaras'; the Commentary has *Śāṃbara*, meaning sorcery ; it may perhaps be connected with Asura Śāṃbara, and is an example of *Asuravidyā* or *māyā*, magic,[90] in the same way as *pāgasāsaṇī* is connected with *Pāgasāsana* or Indra, and is called *indrajālavidyā*. *Māyā* may be associated with Asura Maya. In *Kathāsaritsāgara* Maya asked Candraprabha to enter the body of a hero. Penzer, in the *Ocean of Story*, Vol. IV says : The king had recourse to magic contemplation taught by Maya, and entered the body of that hero abandoning his own frame." *Dāmilī* means 'of the Draviḍa country', which was famous for magic ; so *Kāliṅgī* 'of Kaliṅga Country'. Jacobi takes Gorī to mean 'the art of the Gauḍas,' which to me seems doubtful. In the *Santikaraṣtotra* (6) Gorī is a *vidyādevī*, so also Gandhāri, Rohiṇī (*Santi 5*) and Paṇṇatti (Prajñapti, *Jambudvīpaprajñapti* 1, Āvaśyaka cūrṇi)' and all of them are mentioned together as *vijjā*, *mahāvijjā* in *Avaśyaka* (pt. I. p. 215). In *Kupra.* Kumāra Pajjuṇṇa (Pradyumna) receives from Kanayamālā, his foster-mother, sciences *Gorīpaṃnatti* etc , with which he does wonders—changes shape and routs his father Kaṇha (Kṛṣṇa).[91] In *Kathākośa* (p. 32) there is mention of the *Prajñapti* science..." A Vidyādhara youth named Maṇiprabha knows by *prajñapti* that the son of Madanarekhā was discovered by king Padmaratha of Mithilā....[92] She is mentioned both as *devī* and a *vidyā* in *Supā.* pp. 154, 158. In Pāli literature *gandhārī nāma vijjā* is mentioned at *D.* 1. 213 as a charm, also at *J.* IV. 498. where it renders one invisible. In the *Ṇāyā* (p. 213) Nārada possesses the

89. *D. A.* (*Sumaṅgalavilāsini,*) i. p. 84; vetālaṃ ti ghaṭatālaṃ, mantena matasarīruṭṭhāpanaṃti, etc. *Milinda*, p. 331 ...indajālikā vetālikā

90. *S. B. E.*, Vol. XLIV, *Intro.* xxxi, and p. 368, footnote.

91. pp. 265-67, Gorīpannattivijjābaleṇa kayo kumāreṇa paraṃmaho.

92. *Pārśvanātha*, pp 132-33.

following magic power—"...saṃvaraṇāvaraṇaovayaṇauppāyaṇilesaṇisu ya saṃkāmaṇi abhiyogopaṇṇatti gamaṇithaṃbhaṇisu .."[93]

Māyā in the sense of *indrajāla* is mentioned in *Upadeśapada* (*gāthā*, 823). It was often shown as a didactic device. In *Supā* (p. 199) a Brahman versed in the eight-fold nimittas (signs) causes by *indrajāla* downpour of heavy rains which produced a flood reaching the top of a seven-storied house. In *Pārśvanātha* (Bloomfield ed., p. 46) an astrologer produces deluge by *māyā* in the court of king Naravāhana to prove that life and its attractions are illusory. In *Samarā* (p. 486) a *deva* by *māyā* causes a village to be set on fire; he then ran to extinguish it by loads of dry grass (*tayo vijjhavaṇanimittaṃ ghettūṇa taṇabhārayaṃ dhario devo*). This apparently suggested a similar story in *Upamiti* (p 967) The magic encampment produced by Jṛmbhaka gods in *Pari.* has already been related. In *Kupra.* a *Vyantarī* creates by magic a serpent with a view to indicate the medicine for curing a prince.[94] In *Kupra*, the following story is related: A *māyi*, accompanied by his wife, came through the air to King Padmottara and said, "I am a *Kheyara* (*Vidyādhara*); another *Vidyādhara* carried off my wife. I recovered her, but an enmity grew up between him and me. You are a hero, a brother to another's wife (*paritthi-soyaro*), a refuge to the distressed. Please keep my wife with you, while I go and conquer him in the sky." The king agreed, saying she would remain there as in her father's house. Then the *khecara* armed with sword flew up like a bird in the sky. Forthwith the king heard the noise of fighting, then fell a hand adorned with gems and gold, then a leg, then the second hand, the leg, head, heart, headless body—all of which she identified to be her husband's, and lamenting loudly prevailed upon the king to allow herself to be burnt on a funeral pyre containing those dismembered limbs, and be reduced to ashes. The *khecara* then appeared with a blood-stained body and said with a smile, "Oh king, I have conquered him; now let me have my wife." On hearing this the king was overcome with grief, and lamenting the mischief he had done he became half-senseless. The magician then explained that it was all *Indrajāla*. This

93. Including the maṇathaṃbhaṇī vijjā.

94. *Kupra.* pp. 44-45.

made the king think, "This Saṃsāra is like *indrajāla.*[95]" This reminds us of the celebrated rope-trick. The *vidyā* of a *parivrājikā* in *Supā.* (p. 112) creates an illusion on the king so that he sees Campakamālā in company with some other man.

In *Samarā* (pp. 362,369-73) we read that Vidyādhara Cakraseṇa acquired a great spell (*mahavijjā*) by practising austerities. He gave the spell named *Ajitabalā* to Sanatkumāra. But to acquire this the latter needed an assistant (*uttarasāhaya*). At this moment his friend Vasubhūti suddenly arrived. He was then engaged in preparatory operations for acquiring the spell (*puvvasevā*) which lasted for six months. One night he sat in the *padmāsana* (lotus seat) attitude, performed the *mudrās*, drew the *maṇḍala* and began reciting his *mantra* a lakh times. It seemed the sky gods laughed loudly, the unseasonal clouds thundered, the ocean roared and the earth quaked. Then he saw frightful apparitions (*vihīsiyā*)– a huge elephant in rut, then a wicked Piśācī, frightfully dark, with eyes flashing like lightning, wearing man's skin dripping blood and severed hands and feet hanging from her neck, drinking the wine of blood from a skull (*kavālacasaeṇa*), piercing and kindling the sky with her fiery laughter and holding Vilāsavatī in her hand, and so forth. But as he remained unmoved the apparitions melted away. When the goddess Ajitabalā appeared, he did not salute her till he had completed the recitation of the *mantras.* In this way he acquired the spell, *Ajitabalā.* Vidyādhara Śaśivega gave king Ratnaśikha a science named *Invincible* with a thousand other sciences[96]. The goddess Ajiyabalā was the Śāsanadevī of Tīrthaṅkara Ajitanātha. In *Kupra* she is mentioned as standing at the door of the temple of Jinendra Ajitanātha[97]. She gives sons to those who have no sons, wealth to the poor and kingdom, knowledge, happiness, eyes and health to those who lacked them

Pleased with the valour of a thief who, while hanging from the branch of a tree underneath which was a basin of live coals by means

95. *Kupra.* pp. 133–136; 382.

96. *Kathākośa,* p. 144.

97. *Pravacanasāroddhāra,* 27. *Kupra,* p: 221.

of a rope, cut four strands of it, the science named *Adhiṣṭhāyiṇī*, 'Floating' appeared and gave him a car on which he ascended to heaven[98]. In *Supā* is mentioned a science known as *Saṅgrāmoḍḍā-mar[i] vijjā*, which gives one victory in battles[99].

In the same book the following story is told. There comes to Prince Bhīma a Kāpālika wearing a garland of human skulls and says to him: "I possess the supreme science of shaking the earth (*bhuvanakkhohan[i]*), I have served her for twelve years (*pubbasevā*) and now want to do *uttarasevā* (subsequent service, rites); so kindly be my *uttarasāhaga* (assistant) and come to the *masāṇa* on the dark *caturdaś[i]* night." Bhīma agreed, and came fully armed to the crematorium at the appointed time. The Kāpālika drew a circle, adored his mantradevatā and offered to bind the hair (*sihābandhaṃ*) of Bhīma who said, 'My prowess is my *sihābandha*, you carry on, sir, I am standing guard." The Kāpālika being foiled in his ruse resolved to cut off his head by force, assumed a hideous form reaching to the sky, held a huge knife in his hand and began to thunder like clouds. He addressed him: "O you fool, I will cut off your head; but if you cut it off yourself then in another birth you will enjoy supreme bliss." The prince retorted, "O thou, false ascetic, thou Caṇḍāla, who wearest the skulls of those who trusted thee, I will take thy skull and be revenged for all of them." As the Kāpālika struck him with his knife, Bhīma leapt on his shoulder, but instead of killing him dealt a terrible blow on his head. The Kāpālika threw him up into the sky, and as he was falling, he was held up by a yakṣiṇī named Kamalākṣā who brought him to her temple in the Vindhya hills. After sometime the prince saw a huge arm coming through the space. He rode it, passed through the air and was brought to the temple of Kālī. She was of hideous face and eyes, riding a buffalo, wearing a garland of human intestines and having twenty arms carrying various weapons. He saw there the cruel deceiving Kāpālika holding in his left hand the hairlock of a beautiful man, the arm on which the prince rode being his right.

98. *Pārśvanāthā*, pp. 36, 37.

99. *Supā*, p. 144, sl. 116.

The Kāpālika was going to cut off the head of the man when Bhima intervened and with the doorleaf beat off the sword from his hand He was going to cut off his head when the goddess appeared and bade him hold his hand She said, "Don't kill my beloved son, who is worshipping me with the lotuses of human heads, the head of this man would have completed the tale of 108 human heads. But I am pleased with your valour, ask for a boon" The prince asked her to desist from slaughter of living beings, to which she agreed and disappeared[100]. Exactly the same tale is told in the story of Prince Bhima and his friend Matisāgara in Pārśvanātha[101]. In Pāli literature also there is mention of this earthquake charm[102].

Bloomfield has given an additional note, no. 12 in his edition of *Pārśvanātha* (p. 191) where he says: "Kāpālikas are worshippers of Śiva of the left hand, who carry skulls of men as ornaments, and eat and drink from them. They are always engaged in evil and cruel magic for their own aggrandisement, or their own lust, thus acting the role of the malignant wizard in Hindu fiction. The tales about them, or about wicked yogins and mendicants are legion. As a rule they come to grief in the end. See, e.g., *KSS* 24, 82 ff; 38. 47ff., 121.6ff., *Vetālapaṃcaviṃśati* 24; *Satruñjayamāhātyaṃ* 10, 99ff; *Pārśvanātha* 8.139; *Samarādityasaṃkṣepa* 4, 183 ff., 6.467; 7.201 ff. Lescalier, *Le Trone Enchanté*, pp. 177ff.,... .."

In *Supā* a *siddhaputra* named Jasohara (Yaśodhara) asks Prince Guṇaraja to be his *uttarasādhaka*, and he agrees. He goes to *śmaśana* on the dark *caturdaśi* night, draws a magic circle, lights a fire into which he throws *khadira* wood[103], while he was offering red Kaṇavīra flowers, sandal, bdelium etc. and reciting mantras, the prince was keeping vigil in front with sword in hand. Then a terrible apparition came, the *vidyā devi* herself, and tried in vain to

100. *Supā*, pp. 173 ff.

101. *Pārśvanātha*, pp. 47ff. Bhima remained undaunted when the Kāpālika shook the earth.

102. *D.* 1, 9; Dh. i. 259, *bhāmicāla vijjā*.

103. Catechu wood was especially used for magic purposes,

frighten the prince. Pleased with his valour she imparted to him the charm of assuming any form he liked.

In *Supā.* Prince Vijayacandra goes to a śmaśāna and finds a *yogī* slicing off by means of a bright knife pieces of flesh from the thigh of a woman endowed with auspicious signs and throwing them into a blazing fire-pit, while she was crying in distress. The *yogī* when sharply reproved said, "If pieces of flesh be cut off from the thigh of a man or a woman endowed with auspicious signs and given as *āhuti* in fire accompanied by *mantra* recited 108 times, then the *sādhaka* attains the *ceṭakavara* spell." The prince asks him to release the girl and offers to cut off flesh from his own thigh. He got the *mantra*[104]. In *Upamiti* a Vidyadhara named Ratikeli offers to give king Hariścandra a *Krūravidyā* by which he would be able to defeat his enemies, for the attainment of which a *pūrvasevā* of six months was undergone and for seven days the *paścātsevā* was gone through with *homa* performed with the flesh and blood of a man brought for the purpose. The victim Bala narrates his experience: "I was carried by a *vidyādhara* to a terror-striking *śmaśāna*, the very home of Yama. There I saw a man sitting by the side of a huge fire pit blazing with coals TheVidyādhara addressed him, 'O king, I have brought the person endowed with good signs fit for the attainment of your *vidyā*. At the end of each recital of mantra (*vidyājapa*), throw into the fire the oblation I will hand over to you.' The recital began. The Vidyadhara drew forth a bright knife, sharp like the tongue of Yama. With it he cut off a big slice of flesh from my back, and pressed out of that place blood with which he filled a cup, and handed it along with the flesh to the king as *āhuti* which he threw into the fire-pit. The process continued. Then began a loud laughter, the rumbling of the clouds betokening as it were the end of existence etc., the deformed Vetālas were showering blood. But the King remained unmoved by these frightful apparitions. Then the goddess Krūravidyā appeared and said, "You

---

104. *Supa*, pp. 213-17

Tassa siddha ceṭakarājo bhanati taṃ kumāraṃ |
Tava esa ceṭo'haṃ tu tava ceṭasya ceṭa ||

have won me."[105] In *Kupra* (p. 141) a *vijjā-sāhaga* intent on securing the spell of attracting beautiful women (*itthīrayaṇākarisaṇssa mantassa*) had performed the *puvvasevā* for twelve months, and was doing the *pahāṇasevā* by preparing to sacrifice a princess. A *sādhaka* without the help of an assistant, *uttarasādhaka*, endowed with all auspicious signs, cannot attain a *mantra*; so a man requires the help of a prince for the attainment of *ceṭakamantra*[106]. In *Samarā* Vijayadharma's wife Candravarmā is carried off by a magician who wanted to make use of her for the attainment of a certain spell. The magician consoled him saying that the queen would suffer no harm and would return after six months[107]. Thus we find that *uttarasādhakas* and *uttarasādhikās* were considered necessary for the attainment of *vidyā* or spell. In *Pari*, we read that "two Vidyādhara brothers, Megharatha and Vidyunmālin in order to gain some magical power (*vidyāsādhanahetave* each resolved to marry a girl of low extraction with whom however, they were to live in chastity for a whole year. The brothers went to a village of Caṇḍālas, gained their confidence on conforming to their habits of life and were given each a deformed girl for wife [108]. In *Samarā* (p. 330) a *siddhaputra* (magician) goes to *śmaśāna* (*peyavaṇaṃ*), draws the *maṇḍala* (magic circle), lights the fire and recites the mantra, when after a while, a *yakṣakanyā*[109], exquisitely beautiful in appearance descends from the sky.

N. M. Penzer in *Ocean of Story* (Vol. II p. 295) writes a long note on *'Magic Circle'* The magic circle could be used as a vantage ground from which to summon spirits and also as a barrier from

---

105. *Upamiti*, pp. 269-70. tatah siddhāhaṃ bhavatā iti vadantī prakaṭībhūtā vidyā praṇatā siddhakena praviṣṭā tacchar re...

106 *Kupra*, pp. 466-67. A vivid description of *śmaśāna* and the incidents is given

107. *Samarā*, p. 642.

108. *Pari*. p 31 Canto II, Sl. 647 .

109 Cf the Śrī *Guhyasamājatantra* (*G.O.S*, LIII), a Buddhistic Tantrik work of the 3rd-4th century A. D., Ch XIV, *mantrākarṣeṇa* .. where *sarvamantrākarṣaṇaṃ* is related including attraction of *daityakanyā* and *vidyādharamahākanyā*.

which there was no escape..." He gives a long list of references which I need not repeat here. In *Supā* (pp. 136, 137) there is mention of drawing a line round two serpents, a big and a small, the latter riding the former (*bhaṇai imānaṃ, bandhava, gamaṇaṃ ḳhillemi ḳaḍḍhiuṃ rehaṃ*). In *Samarā* a physician draws a magic circle, and places inside it the patient Arahadatta, applies charmed medicines, and remembers his *maitthāna* (*māyāsthāna*, i.e. magic) *vijjā*[110], and drives away diseases.

Goddess Kālī is known as the *Sāsanadevī* of the fourth Jaina Tīrthaṅkara (*Saṃti*, 9), also as a *Vidyādevī* (*Saṃti* 5). So also Mahākālī[111]. In *Supā* (p. 401) there is mention of a *vijjā* named *Morī*; this is probably the famous Māyurī or Mahāmāyurī Vidyā[112]. Mention is made of the *Moraparitta* in Buddhist literature, six canonical texts being used as paritta, viz., Ratanasutta, Khaṇḍa-parittā, Moraparittā, Dhajaggaparittā, Āṭanaṭiyā and Aṅgulimālā parittā. Dr. Pertold says that the *Mora-paritta* in Morajātaka seems to be a pre-Buddhist *mantra*[113]. Jayaswal in his *Imperial History of India* says of Nāgārjuna that " he will possess *Māyurīvidyā*"...[114] *Mora* in *Deśī* means *caṇḍāla, śvapaca*; therefore morī vidyā is in effect the caṇḍālī or *māyaṅgī vijjā* referred to above. The Mātaṅga connexion seems to be very strong from Dr. Levi's article, *On a Tantrik fragment from Kucha* (*Central Asia*)[115] from which I am quoting the following extract. (In Kuchean) Homage to the Māṭaṅgins·····Kālī ! Kālī ! Mahākālī (In Sanskrit.) Homage to the Mātaṅgas, to the Mātaṅgikas . boys...girls...clan family ancients... Vidyādharas Viśvāmitra gods .. Triśaṅku .. Having worshipped, I shall employ this *vidyā*. That this *vidyā* may succeed for my sake ! Thā ! hā ! hā ! hi ! hī ! hu ! hū ! hi ! hi ! hi ! mili ! mili ! dudumi !

---

110 *Samavāyaṃga*, 39; *Paṃcāsapaḳaraṇa*, 17, 48.

111. *Saṃti*, 5 and 9; *Samarā*, p. 375.

112. Cf. Sādhanamāla, p. 457.

113. *Jour. Anthro. Soc. Bombay*, Vol. XII, p. 735.

114 *Imp. Hist of India*, p. 18; also "māyūrī nāmato vidyā siddhā tassa mahātmano" (*Mañjuśrīmūlaḳalpa*, Sl. 492)

115. *J. H. Q.* Vol. XII pp. 198ff. esp. pp. 201, 202

Vegavāti ! yiyi ! Caṇḍī ! Mahākarī ! Māyurī ! .. Vetāḷi ! Citraketu ! Prabhāsvarā ! Ghorigandhurī ; Caṇḍālī Vegavāhinī ! To Viśvāmitra, svāhā ! .. Who these Mātangas are is evidenced by the mention of Triśaṅku Mātaṅgarāja along with Viśvāmitra Mātaṅgarāja. The Mātaṅgas are Caṇḍālas; therefore we are dealing here with those lowest forms of worship where untouchables are acting as priests. This is the same world where we are carried on the Buddhist side with the celebrated Mātaṅgīsūtra, a Chinese translation of which dates as early as the end of the second century and another dates in the twenties of the third century..."

We find in the extracts some of the *vidyās* mentioned above, viz. Kālī, Mahākālī, Vetālī, Māyūrī, Caṇḍālī. *Ghorigandhurī* may in all probability be Gorī and Gandhārī.

I may here refer to the Inscription on the back of the statue of Amoghapāsa at Padang Chandi in middle Sumatra, Śaka year 1269 described in Dr. B. R Chatterji's *India and Java*, pp. 79 The Bhairava consecration of Prince Ādityavarma, the Sumatran prince, who caused the statue to be established, is described therein, in conformity with Kālacakra Buddhism, "the only way which paves the way for syncretism with Śaivism in its Bhairava aspect" There is also the Mātaṅginīśa inscription (1269 Śaka Era). Chatterji says: "Mātaṅginī occurs in the *tantras* as one of the *daśamahāvidyās*. This word also means a girl of low caste who acts as *yoginī* in the *cakra*. Ādityavarman's queen was the daughter of a tribal headman. M. Moens supposed her to be the Mātaṅginī of the inscription In the *Guhyasamāja* a girl of low extraction such as a Mātaṅginī (Caṇḍālī), a washer woman was used for the *tantric sādhanā* It seems that the *tantric* practices began from the second century and it began to be riotous in the 7th and 8th centuries, and attained climax in the 9th and 10th. From Rājaśekhara's works it appears that the Kaula system was popular. "In the whole of *Karpūramañjarī*, there is not a single word which might be constituted a dispraise of the *kaulas* or Bhairvānanda, the boozy exponent of the cult in the Drama··· It gives in brief the main details of this system. Exaggerated and repulsive as these might appear to modern readers they are faithfully

represented in the drama, for every word regarding these can be certified as correct by reference to works of recognised authority on the Tantrik cult In Bhairava Cakra, or the circle of Bhairavī, where the Kaulas gathered to worship Śakti, all castes were admitted, meat of every sort excepting perhaps beef was allowed, and every worshipper was required to contract a marriage which was to last to the end of the gathering··· Young widows, dancing women, wives of barbers, washerwomen, and women of some other castes were especially welcomed at such meetings and dishonoured with the title of Kulāṅganā."[116]

In the *Guhyasamāja*, a Buddhistic Tantrik work of the 3rd-4th century, 18th Chapter, " mention is made of *Prajñābhiṣeka* or initiation of the disciple with Prajñā or Śakti. There it is said that the preceptor should take by the hand the Śakti who is beautiful, agreeable to the disciple, and also an adept in the practice of *yoga* and place it on the hand of the disciple . therefore this Vidyā should be accepted." Girl of a caṇḍāla, of a washerman, of a Naṭa, of a Brahmakṣatriya, Vaiśya or Śūdra, should be used as helping the *sādhaka*..."[117] "In the *Guhyasamāja* every thing is permitted, not only flesh of the most harmless kind, but all kinds of flesh meat are permitted such as flesh of elephants, horses, dogs, cows, nay, even of human beings···"[118] The *Guhyasamāja* enjoined its followers to disregard all social laws..."You should freely immolate animals, utter any number of falsehoods without ceremony, take things which do not belong to you, even commit adultery—is the advice given to followers. Before a sādhaka who has grasped the real truth, the duality in the world disappears and all things are to him mere appearances." But this philosophy led to riotous rites in subsequent times. Magical practices, attainment of minor *siddhis*, such as

---

116. *J. I. H.* Vol. IX pp. 120-121. *Karpūramañjarī* 1. 23.

117. *Intro*, p. xii, also Ch. XV.

118. Ibid. Intro. xii,
hastimāmsaṃ hayamāmsaṃ tathottamaṃ
bhakṣedāhārakṛtyārtham na cānyattu vibhakṣayet ॥ p. 26
gomāṃsa hayamāṃseṇa śvānamāṃsena citriṇā ॥ p. 102

māraṇa, uccāṭana, vaśīkaraṇa, stambhana, ākarṣaṇa and śāntika (propitiatory rites) etc., are treated. Mantras for destroying enemies, compelling rain, reviving persons from the effect of snake bite are given in the work.

There is reference to the art of entering another's body in Parapurapraveśaniṣedhe Vikramādityakathānakam in *Kupra* (pp. 437-440). Bloomfield has thoroughly treated the subject in *Proc. Ameri. Philo. Soc.* Vol. LVI (1927), see also his *Pārśvanātha*, pp 74-83, N. M. Penzer's *Ocean of Story* (Vol. IV, p. 46) and the references quoted therein, which I need not repeat.

Saints know things by *manapajjava* (*manahparyāya* or *manahparyava*), or *avadhi* which cannot strictly be called magic. In *Samarā* (p. 270) a king set dogs on a sage, and thought to cut off his own head in expiation of his sin. But muni Sudatta who possessed the power of reading other's thoughts said to him, "Don't think in the way." There is the *maṇapasiṇa vijjā* which enabled one to answer questions which one puts in his own mind without disclosing it[119].

---

119. *Pañhavyākaraṇa* 2. 1., *Ova.*

PRĀKRIT STUDIES:
THEIR LATEST PROGRESS & FUTURE[1]

By

Dr. A. N. Upadhye

Looking back at the march of Oriental scholarship, we find that the Indologist had to take up the study of Prākrits in the dramas and rhetorical works so far as literature was concerned, and in the Asokan inscriptions so far as epigraphic records were concerned. But the interest in Prākrits had no bright prospects at this stage: the contents of the Prākrit portions of the drama were studied from the Sanskrit Chāyā and the Inscriptions, which were often presumed to be in Sanskrit, occupied the attention of a few specialists. Some scholars came to study the Pāli texts, canonical and non-canonical; but the language, with occasional archaisms, showed such an uniform constitution which was so well defined by grammatical standards that the study of Pāli was almost segregated as it were in the study of the evolution of Indian languages. Gradually the field of Ardhamāgadhī works was opened and cultivated to a great extent by Weber, Leumann, Jacobi, Schubring etc.; and even in its early stages the study of Ardhamāgadhī, due to the affinity seen between Buddhism and Jainism, connected itself linguistically with Pāli and the Prākrits in the inscriptions. Soon Beames, Hoernle, Bhandarkar and others explained the growth of the Modern Indo-Aryan languages with the help of Prākrits. Almost simultaneously with this study, Bühler was working like an academic link between India and Europe; and scholars like Weber, Schmidt, Pischel, Pandit and others occupied themselves with Prākrit songs and poems, and dramatic and grammatic Prākrits. It was Pischel collaborating with Geldner that found that some obscure Vedic words could be better explained with the aid of linguistic tendencies well-known in the

1. This forms a portion of the Address delivered by Prof. A. N. Upadhye, as the President of the Prākrit, Pāli, Ardhamāgadhī (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental conference, Hyderabad, December 1941.

Prākrits. Thus the field of Prākrits assumed well-defined outlines, though there was and still there is ample scope for adding details here and there; and on the eve of the last century sound foundation was laid for the Prākrit studies by Pischel's Grammatik der Prakrit Sprachen which is a monument of Germanic thoroughness and a marvel of methodical analysis of a bewildering mass of refractory material. Minor details may be added or corrected here and there; but Pischel's work, with its close associate Pāli Literatur und Sprache by Geiger, is a beacon light, as a descriptive grammar, to all the workers in the field of Middle Indo-Aryan. The latest studies of Prof. Bloch (L'Indo-Aryen du Veda aux Temps Modernes, Paris 1934) have clearly demonstrated how the Prākrits occupy an indispensable position in the study of Indo-Aryan. In view of the richness of material, the multiplicity of problems, the need of mastering so many languages or dialects, and the difficulties inherent in the field, it is wellnigh impossible for any single scholar to envisage the entire range of Prākritic studies completely and thoroughly. Every one of us can honestly try to do what is possible for us.

It is a deplorable event that we cultivated the habit of studying Prākrits not from the original but through the Sanskrit Chāyā The reader satisfied himself with the contents and neglected the language; and thus, in a way, this method has been detrimental to the puritanic preservation and the natural study of Prākrits. This tendency has been so deep-rooted with us that it has expressed itself in various ways. We are told that Siddhasena wanted to rewrite the entire Ardhamāgadhī canon into Sankrit. Some of the later play-wrights, who dare not give up the convention of using Prākrits in defiance of the rules of rhetoricians, add the Chāyā themselves to their Prākrit composition. There was felt the necessity of a Sanskrit summary for that excellent Prākrit Campū, the Samarāiccakahā of Haribhadra; and even to-day many read it through its Chāyā, a portion of which is just published. The Apabhraṁśa Dohās and the post-Apabhrṁśa Rāsas are equipped with Sanskrit commentaries and Chāyā. Hāla's verses have been metrically rendered into Sanskrit in later years. The Jñāneśvarī, an old-Marāṭhī commentary on the Gītā, is rendered back into Sanskrit. Sanskrit rendering is supplied

even to the Asokan Inscriptions. As a culminating point for all this, the Prākrit portion of the so-called Sanskrit dramas is studied only from its Chāyā in the courses of our higher education; and it has been my experience that some of our graduates are not even aware of their neglect of the Prākrit original. The cheap annotator has gone one logical step further, and an edition of a drama is already issued cleanly purging the Prākrit passages from it. This method of study is as much unnatural as to render the Ṛgveda into classical Sanskrit and then study it. I am afraid that, but for the sanctity attached to the Vedic words and sounds, we would have even done this. The facts noted above clearly indicate that the study of Prākrits is neglected almost uniformly; and there are reasons to believe that a good many works, which are known to us only from quotations, have been lost beyond recovery.

A student is not adequately equipped for duly grasping the manifold currents of ancient Indian culture, if he does not study both Sanskrit and Prākrit literatures side by side. It is absolutely necessary that the study of these languages should go hand in hand. The epigraphic evidence clearly indicates the popularity enjoyed by the Prākrits as a medium of popular expression; and whether in the North or in the South the earliest royal edicts and private records are found written in Prākrit. The dramas extensively use Prākrits which are assigned to women etc., and this testifies to the fact that the Prākrits were once popular languages. Lately Prof. J. B. Chaudhari has drawn the attention of scholars to some Prākrit poetesses in his excellent work, Sanskrit Poetesses Vol. II; and we know that the Karpūramañjarī was first enacted at the instance of that cultured lady, Āvantīsundarī. But unluckily the Prākrit studies have not received the due encouragement which they deserve To take one example, only a few Indian Universities have included Prākrits in their courses. This, however, should not discourage the serious worker; the rich material in the fresh pasture of the Prākrit field is sufficient to encourage him to work on and fill up the gaps in the study of Indian literature by the results of his researches.

It is an accepted fact that the progress of the study of any language or literature depends entirely on the critical editions of texts and their accessories. So far as Pāli is concerned, we have the entire canon issued on an uniform plan by the famous PTS. Though nearly the whole of the Ardhamāgadhī canon of the Jainas is published in India in more than one edition partly or entirely, the number of texts edited critically is very small. Most of the Nijjuttis and some of the Cūrṇīs are published, but no serious attempts are made to bring out their authentic editions or to study thoroughly their contents in a critical manner. It is high time now for the Jaina community and the orientalists to collaborate in order to bring forth a standard edition of the entire Ardhamāgadhī canon with the available Nijjuttis and Cūrṇīs on an uniform plan. It would be a solid foundation for all further studies. Pischel did think of a Jaina Text Society at the beginning of this century; in 1914, on the eve of his departure from India, Jacobi announced that an edition of the Siddhānta, the text of which can lay a claim to finality, would only be possible by using the old palmleaf Mss. from the Patana Bhandaras; and only four years back Dr. Schubring also stressed this very point. These scholars have done solid work in this field, and naturally their words carry a significant weight with them. Now through the liberal donation of Sheth Hemachandra Mohanlalaji and others, the Hemacandrācārya Jaina Jñānamandira has been founded at Patana, and the local collections of Mss. are being housed there safely and arranged systematically. This can grow into a fine research library in that historic metropolis of Gujarat; and definite impetus would be given to Jaina learning, if a Board can be organised there to issue a standard edition of the canon with its Prākrit commentaries. The critical text of the Mahābhārata, so ably edited by Dr. V. S. Sukthankar is a methodological marvel, and can serve as a good model. When the entire canon is authentically edited, it would be easily possible to improve upon and supplement the material of the Ardhamāgadhī Dictionary and the Pāïasaddamahaṇṇava in order to complete a Dictionary of Ardhamāgadhī on the plan of the Pāli Dictionary of Stede or even that of Trenckner now edited by Andersen and Smith. Other accessories of research like the Dictionary of Pāli Proper Names which has been lately completed

in two volumes by Dr. Malalasekera can easily follow. As yet we have no authentic compilation of Jaina technical terms whose shades of meaning can be studied in the different strata of Jaina literature Suali and Jacobi had seriously thought of a Prākrit Dictionary (ZDMG, Vol. 66, pp. 544-48) some years back, but so far we have covered only a small bit of land though we aspire to reach the ideal destination.

The Samarāiccakahā of Haribhadra is a typical representative of the narrative literature in Prākrit or what we call to-day Jaina Māhārāṣṭrī; but many of its predecssors like Kuvalayamālākahā (Prof. Jinavijayaji has an edition of this on hand) and successors like the Vilāsavaīkahā are still in Mss. Some of us must devote ourselves to edit various texts critically and write monographs on them; and thus alone the task of a future historian of Prākrit literature can be facilitated. The editor of the Prākrit texts is faced with many a grammatical and textual difficulty presented by the vagaries of Mss. Thoroughness of editorial discipline has its charms, no doubt, and it has its advantages for the advancement of studies; but we should not carry it out against the Mss. tradition. We are to reconstruct or reconstitute the text and not to create one. The tradition of the text preserved by manuscripts should deserve our highest respect; and it should weigh against later grammatical standards and critical and linguistic expectations. It is this consciousness alone that would keep us on the right track. On slender grounds the Prākrit dialects are distinguished and conventional names are added to the list (S M. Katre: Names of Prākrit languages, NIA II, 5); and naturally the editor's task is arduous. Inspired by the spirit of the scientific era, Pischel and Konow have been too rigorous and thorough ; experience and fresh material are gradually teaching us that many of our authors did not distinguish the dialectal differences so thoroughly as the linguist of to-day expects from them ; and we see that the edition of Karpūramañjarī (Calcutta 1939) by Dr. M. Ghosh of the Calcutta University comes like a reaction against the editorial rigour of Konow to vindicate, to a certain extent, his own theory elaborated in the Introduction and his earlier paper, 'Mahārāṣṭrī, a later phase of Śaurasenī' (Journal of the Dep. of Letters vol. XXIII Calcutta

1933). Prākrits present insurmountable difficulties to a conscientious editor ; however our fidelity to the Ms. tradition should not be infringed without sufficient reasons ; and if we are too much tempted to offer emendations, we should state them clearly.

It is through Hāla's Collection, quotations in rhetorical works etc., that the orientalist is acquainted with a good deal of Prākrit poetry which is highly complimented by Rājaśekhara and others. As regards the prose style, we have grand models in Middle Indo-Aryan especially in works like the Milindapañha, Bhagavatī, Samarāiccakahā etc. The text of the Vasudevahiṇḍī, which has already occupied the attention of eminent scholars like Dr. Alsdorf (Harivaṁśapurāṇa pp. 94-109, Hamburg 1936; Eine neue Version der verlorenen Bṛhatkathā des Guṇāḍhya presented to the 19th International Oriental Conference at Rome; The Vasudevahiṇḍī a Specimen of Archaic Jaina Māhārāṣṭrī, Bulletin of the SOS, VIII, parts 2-3; A new version of the Agaḍadatta story NIA I. 5), when completely published, will give rise to a crop of problems connected with the Indo-Aryan language and literature. These texts afford rich material for the study of the MIA prose. Dr. A. M. Ghatage has already begun a systematic study of Prākrit Syntax (Repetition in Prākrit Syntax, NIA II, 1; Concord in Prākrit Syntax, Annals of the BORI, XXI, 1-2). Lately in his Doctorate thesis on the Causal in the Indo-Aryan, he has fully discussed the different aspects of causal formations in Prākrit.

The early stratum of the Prākrit literature, which is held sacred by the Digambara Jainas, is at present represented by the works of Śivārya, Kundakunda, Vaṭṭakera and others. It was believed, and rightly so as lately shown by Prof. Hiralalaji (Jaina A. Vol. VI. pp. 75-81), that still earlier texts are embedded in the huge commentaries, Dhavalā, Jayadhavalā and Mahādhavalā whose only Mss. exist at Moodbidri in South Kanara. For decades together they were not being given out. Times are changed, and the copies of the first two have come out. Under the patronage of Sheth Lakshmichandraji Shitabrai, Prof. Hiralalaji, Amraoti, has already brought forth three sumptuous volumes of Dhavalā giving the text and Hindi rendering.

His learned Introductions are bringing to light many new facts; and in various contexts we shall have to modify our knowledge of the history of Jaina literature. It is for the first time that these works dealing with highly technical Jaina dogmatics and in Prākrit prose of a logical style (with occasional Sanskrit passage here and there) have been brought to light; and thus an important branch of Indian literature is opened for study. It is a matter of satisfaction that the Jayadhavalā also has been taken up for publication, under the liberal patronage of Sahu Shantiprasadaji Jain, by the Jaina Saṅgha Mathura; and Pt. Mahendrakumaraji, Benares, and his colleagues have been entrusted with the editorial work. Prof. Hiralal's work has been appreciated everywhere; and it has been possible for him, through the goodness of Śrī Cārukīrti Bhaṭṭāraka of Moodbidri, to compare the press-copy of the Dhavalā with the original palm-leaf Mss. at Moodbidri. It is necessary, and we earnestly appeal to Śrī Cārukīrti Bhaṭṭārakajī and the local Pañcas of Moodbidri to make available to scholars the copy of Mahādhavalā also. We see no reason why Mahādhavalā should not be published from Moodbidri itself and thereby enhance the greatness of that holy place. The works of Śivārya and Vaṭṭakera are published with their Sanskrit commentaries, but as yet they are not subjected to a critical study. They contain much matter which antedates the division of the Jaina church into two great schisms, Digambara and Śvetāmbara; and if their contents are duly compared with Nijjuttīs, many interesting facts can be brought to light. The lines of study are partly indicated by Leumann (Ubersicht über die Āvaśyaka-Literature, Hamburg 1934), and we have to pursue them further.

So far the Jaina Commentarial literature, for which we have a great bulk in Prākrit and Sanskrit and on both the Śvetāmbara and Digambara texts, is studied only to understand the basic texts. Many commentaries are published, but few are critically studied. The Nijjuttīs, Cūrṇīs and even the Sanskrit commentaries are a rich mine of information giving Pūrvapakṣa views, quotations from Jaina and non-Jaina texts, traditional and didactic tales and bits of cultural information all of which are not so far properly sorted and critically assessed. We know the dates of many of these works, and hence

their contents assume a chronologinal value. Prof. Vidhushekhar Bhattacharya has lately shown (IHQ, XVI, p. 143) that Guṇaratna quotes from and was quite familiar with the Pramāṇavārtika of Dharmakīrti, the text of which has been lately edited by Śrī Rāhula Sankratyayana. In some cases the quotations have some textual value as shown by Mr. P. K. Gode in his interesting paper 'The Bhagavadgītā in the pre-Śaṁkarācārya Jaina sources (Annals of the BORI, XX, p. 188 ff.). I have lately proved how the Jīvatattvapradīpikā (Sk.) on the Gŏmmaṭasāra was wrongly attributed to Keśavavarṇi when, in fact, it was written by one Nemicandra, contemporary of king Sāḷuva Mallirāya who flourished in South Kanara at the beginning of the 16th century A. D. (IC, VII, i). A scrutiny of their quotations often helps us to put good limits to the age of these commentaries as I have attempted in the case of Vasunandi's Vṛtti on the Mūlācāra (Woolner Comm. Vol., Lahore 1940, p. 257 ff.), and as Mr. Gode has shown with respect to Malayagiri's date (Jaina A; V, 4, p 133 ff.). It is desirable that the Editors themselves should analyse such material in their editions; and if they have not done, some of us can take up these topics and study them thoroughly.

The study of Apabhraṁsa language and literature is a new field in Indology. Many valuable texts have been edited by scholars like Jacobi, Dalal, Gune, Sahidullah, Gandhi, Vaidya, Hiralal and Alsdorf. Important discussions on the nature of this language have been contributed by Jacobi, Gandhi, Hiralal, Alsdorf, Upadhye and others. It is a relief to many of our students that Jacobi's Introductions are translated into English by Dr. Manilal Patel. A number of linguistic and metrical problems connected with Apabhraṁśa are ably discussed by Dr. Alsdorf in his Apabhraṁśa-Studien (Leipzig 1937). Students of Apabhraṁśa have nothing but praise to offer for the arduous and patient labour with which Dr. P. L. Vaidya has finished his sumptuous edition of Puṣpadanta's Mahāpurāṇa in three volumes. The joint efforts of Premiji, Hiralalaji, Alsdorf and Vaidya have not only rescued from oblivion one of the great poets of medieval India, but by their solid contributions have also given him a significant seat in the galaxy of Indian poets. The fading flower

of Puṣpadanta's genius bloomed once more at Mānyakheṭa, the modern Malkhed in this very territory of H. E. H. the Nizam ; and under the patronage of Bharata he composed his Mahāpurāṇa. The personal touches, which are nicely outlined by Dr. Vaidya in his Introduction, are simply thrilling, and throw a good deal of light on the personality of Puṣpadanta. It is for the future workers now to work out internal details with befitting devotion. What we possess and what we know about Apabhraṁśa literature and language are nothing in comparison with what is still buried in Mss. in the great Bhaṇḍāras scattered all over Rajaputana, Gujarat and the adjoining territory. The Apabhraṁśa language appears to have been intensively cultivated nearly for one thousand years, almost from the 6th to the 16th century A. D., all over this area. Here is a virgin soil that awaits intensive labour of a few generations of scholars. For a while we must set aside our imaginative faculty in putting forth startling theories from meagre facts, must curb to some extent the premature enthusiasm of the fresh discoverer, guard ourselves against sweeping generalisations and patiently labour on these Mss. to bring to light manifold linguistic and cultural facts, and asses their significace in a proper perspective. What we want to-day is the authentic editing of these works. The documentary value of the works of many of the Apabhraṁśa and Old-Gujarātī poets is far superior to that of the works of even later authors like Jñāneśvara and Tukārāma in Mahārāṣtra. Reliable texts that are systematically and definitely constituted after using specified and authentic Mss. material are a pre-requisite of all research and serious study. To begin with, our editions may not be and cannot be absolutely critical, but a careful editor can make them reliable within the limits of the specified material. That is a modest beginning for all further work, and no critical investigation can be carried on with uncertain texts. Necessary help for such work is available. Hemacandra has given to us a practical outline of Apabhraṁśa. Eminent scholars like Jacobi, Hiralal, Vaidya and Alsdorf have placed before us model editions ; and the significant part of their work is that they are guided more by the cumulative evidence of grammatical standard arrived at by the study of Mss. than by the rigid rules of some grammarian or the

other. Pāïasaddamahaṇṇavo is a good dictionary for all practical purposes. Apabhraṁśa marks a new era in Indian literature in the employment of metres quite fitted for the genius of that language. The valuable material and the learned discussions presented by Prof. H. D. Velankar in connection with the metrical discipline of Prākrit and Apabhraṁśa form a mine of information and as such are indispensable to all students of Prākrit literature. His latest contribution pertains to Apabhraṁśa and Marāṭhī metres (NIA I, 4, pp. 215 ff); and we are soon expecting his edition of Hemacandra's Chandonuśāsana (the portion dealing with Prākrit metres) equipped with highly useful Indices. The mathematical portion of the Pratyāhāras from this work is studied by Dr. Alsdorf in his article in Zeitschrift für Indologie und Iranistik (Leipzig 1933). We owe a good deal to scholars like Haraprasada Shastri, Sahidullah, Bagchi, Chowdhari and others in connection with the study of what is called eastern Apabhraṁśa. Lately Dr. P. C Bagchi has edited the Dohākośa (Calcutta 1939), which presents the Apabhraṁśa texts of the Sahajayāna school with Chāyā and Sanskrit commentary on some portions. Day by day new Apabhraṁśa texts are being brought to light, Prof. Hiralal has lately written an article on the Aṇuvaya-rayaṇa-padīva of the 13th century A.D. (JSB, VI, p. 155ff.), and I am presenting to you a paper on Hariṣeṇa's Dharmaparīkṣā composed in 988 A. D. The Apabh. field is a rich pasture to feed our studies upon What is done is nothing in comparison with what needs to be done. I dare not advise you: let us all sincerely and systematically work in co-operation with each other in order to advance the studies which we have inherited from our worthy predecessors.

Apart from its linguistic importance, the Apabharaṁśa poetry is rich in its metrical and rhetorical devices, possesses a good deal of ethical wisdom and exhibits a close observation of the work-a-day world. What we see in Hāla's songs is found here on a magnified scale. The flow of words rushes like a mountain stream, as Uddyotanasūri has put it; and the war-descriptions give a thrill. Though the expressions are vigorous, softer sentiments like love, piety and kindness are sketched with a remarkable human touch.

The literature, as a whole, is anything but aristocratic; and reflects different aspects of Indian society. Not only a cold linguist gets rich material but also a sentimental literary artist finds a delicious dish in this tract of literature. Nowhere else in Indian literature sound and sense and outward music and internal melody have so much co-operated to create an indeliable poetic effect as in Apabhraṁśa.

A thorough study of Apabhraṁśa texts is necessary in yet another way. So far as Gujarātī and Rājasthānī are concerned, there is every prospect of tracing the history of the evolution of these languages; and much that has been written in the past will have to be rewritten after using the material from Apabhraṁśa literature. How closely connected is the origin of the Modern Indian languages with Apabhraṁśa is briefly but clearly shown by Dr. Alsdorf in his popular lecture on Die Entstehung der newindischen Sprachen (ZDMG for 1937). Lately Prof. Narottamadas Swami and other scholars have nicely edited some old Rājasthānī texts. The topic has been critically approached by Tessitori, Turner, Dave and others; but still, much more requires to be done. The linguistic data is so vast and varied that it brings us almost to the dawn of the period of New Indo-Aryan, especially in Gujarātī and Rājasthānī. Old Rāsas, many of which have been noted by Mr. M. D Desai and others, are indispensable in the study of the earlier stages of Gujarātī. Some words and forms can be studied through dated records at regular intervals. In Maithilī also the old poets like Vidyāpati remind us of a good deal of Apabhraṁśa as we know it from the grammars.

With the national consciousness that we see prevailing everywhere in India, more and more attention is being devoted to the study of modern Indian languages which, in the long run, will serve as the medium of instruction in the higher education also. After all it is our graduates and under-graduates that are to mould our literary languages; and their perspective usually depends on what they have studied for their examination. It is not enough therefore, that students should study only modern literature in their courses of modern Indian languages; but they must be duly equipped with some knowledge of Prākrits, especially Apabhraṁśa. It is high

time that the Universities, which have modern Indian languages in their degree courses, should see that the curriculum prescribes a first-hand knowledge of Prākrits and Apabhraṁśa. A sudden leap from Sanskrit to Hindī, Gujarātī or Marāṭhī gives no clear grasp of the language to the student; and in the absence of any training in or acquaintance with Prākrits, some of the etymologies etc., attempted by even notable writers are simply inauthentic, if not ridiculous. In some provinces the language that is being evolved to-day is somewhat pedantic and the literary language is drifting away from the language spoken by masses. The Prākritist has to be immune from provincial predilections and prepossessed partialities. If the facts collected do not warrant a categorical conclusion, let us refrain from arriving at it. A law or a theory hurriedly laid down is fatal to all progressive scholarship. Theories may be fascinating; but if they are not well-founded, they blur our vision. Unfortunately the study of Prākrits has suffered to a certain extent due to some theories which thrived on scanty facts. Without any ceremonious hesitation we had to give up the theory that there were as many Apabhraṁśas as there are provincial languages to-day. Further the builders of science have always a set of terminology; but when we use them later on, we have to be fully aware of the meaning originally attached to these terms. For instance, the Eastern and Western Schools of Prākrit grammar have to be understood with some proviso (BV II, ii, p. 171). Terms like Mahārāṣṭrī, Śaurasenī may have had some regional colour in the beginning; but once they became literary languages, their connection with a particular locality cannot be insisted on to its logical extreme. Such statements as 'Wherever Māhārāṣṭrī works were written is Māhārāṣṭra' only show how loosely these terms are used by some people. Jaina Māhārāṣṭrī or Jaina Śaurasenī has nothing to do with Jainas in Mahārāṣṭra or Śūrasena territory. The Prākritist has to guard himself against such pitfalls.

Now it is wellnigh admitted by scholars that Apabhraṁśa, with minor local variations here and there, formed the basis and the prototype of the Modern Indo-Aryan vernaculars, and was current over an extensive portion of Northern and Central India. If, therefore, our present vernaculars are to be enriched in vocabulary and

grammatical formation, here is a common field on which we can draw; to some extent this would bring our language nearer the masses; and this approach would satisfactorily solve, in a large measure, the problem of the vocabulary of our National language which we are trying to evolve for interprovincial intercourse

Following the lead of Grierson, Tessitori, Turner etc, eminent Indian linguists like Drs. Chatterji, Banarasidas, Dhirendra Varma, Saksena, Dave, Katre, Kakati and others have given to us admirable monographs on various languages and dialects like Bengali, Panjabi, Braj, Awadhi, Gujarati, Konkaṇī, Assamese etc. From the nature of the material available to them, their studies are devoted more to the problems of phonology than to questions of morphology, while the aspect of syntax is cleanly left out. Thus there is still a good deal of scope in clearing up the origin and growth of forms and syntax of most of these languages, particularly with the aid of the welcome help supplied by Apabhraṁśa literature. Even in phonology the new material available in the ever increasing Apabhraṁśa works has to be further investigated as is apparent from some of the problems studied by Dr. Alsdorf in his Apabhraṁśa-Studien. Thus can be marked out the period of the beginning of the Modern Indo-Aryan languages some of which have developed interesting post-positions. A systematic study of any phase of the New Indo-Aryan cannot be divorced from the thorough study of the Middle Indo-Aryan. In other words and going one step further, our modern languages should be approached on the one hand from the Prākritic side and on the other from that phase of the present language which is current among the masses. This alone would give us a complete outline for our study.

The urgency of systematising and popularising the Prākrit studies is being gradually felt, and we are glad to welcome a few of the latest publications in this direction. Dr. A. M. Ghatage's Introduction to Ardhamāgadhī (Kolhapur 1941, Second revised ed.) is a systematic and serious attempt to lay the foundation of Ardhamāgadhī studies on a sound basis keeping in view the position of Ardhamāgadhī in the Middle I—A. and general linguistics, Though

meant for beginners, it does not ignore the needs of higher studies. In view of the methodical record of authentic forms, this Introduction would be very useful to all the students of the Middle I-A. The Jaina Siddhānta-kaumudī or the Ardhamāgadhī Vyākaraṇam by Śrī Ratnachandrajī Muni (Lahore 1938) is an attempt to present the facts of the Ardhamāgadhī grammar in Sanskrit on the model of the Siddhānta-kaumudī: naturally it would be very useful to Sanskrit Paṇḍitas to acquaint themselves with Ardhamāgadhī. The Mahābodhī Sabhā, Sarnath, has been, with a view to popularise the contents of the Pāli canon, issuing Hindī translations of some important Pāli works; and as a supplementary step in this effort, a standard and exhaustive Pāli grammar in Hindī, was a desideratum. This need has been ably fulfilled by the Pāli Mahāvyākaraṇa (Sarnath, Benares 1940) of Bhikshu Jsgadīśa Kāśyapa, who has systematically presented the contents of the Pāli grammar of Moggallāna, whose Sūtras are constantly referred to in the foot-notes and are continuously reproduced (with the Dhātupāṭha) in an appendix. Together with Geiger's Pāli Literatur und Sprache, it is an extremely useful volume for the student of Pāli.

A time may soon come when standard Dictionaries of Modern Indian languages have to be compiled after studying the etymological history of every word in the light of Sanskrit, Prākrit and Dravidian sources. Turner's Nepālī Dictionary has already set an example. The Prākrits afford such a rich material that a Prākritist has to contribute a substantial share in tracing the etymological and semantic growth of various words in the Modern I-A. The so-called Deśī words open his vista still further, and he has to establish close connection with Dravidian languages as well. If we are able to publish all the major Apabhraṁśa and post-Apabhraṁśa texts, in many cases we might be able to detect the growth of words and forms at different intervals. No Dictionary of any New I-A. language can be worth the name, if it silently ignores the rich material from the Middle Indo-Aryan languages.

The lexicographical, etymological and grammatical study of Prākrits, if systematically carried out in relation to the usages in

Jaina and Buddhistic Sanskrit texts and commentaries, is sure to be fruitful and sure to advance our knowledge of the Middle Indo-Aryan to a great extent. The Jaina Sanskrit texts are not sufficiently utilised in our Sanskrit Dictionaries: that is a handicap in our studies. The interpretation of Antaraghara (NIA, I, i) and Tāyin, Tāyi and Tādi (D. R. Bhandarkar, Vol. p. 249 ff.) given by Dr. P. V. Bapat; the explanation of 'utkalāpaya' by Dr. A. M Ghatage (NIA, I, 5); Prof. Edgerton's fresh light on the Pāli 'middha' (NIA, II, 9), on the Indic 'diśati = says' (Woolner Vol. p. 88) and on the ending-less Noun-case forms in Prākrit (JAOS, 59, No. 3); discussion about the Prākrit 'ucciḍima' and 'uccuḍaï' by Dr. S. M. Katre (Kane Vol. p. 258) and about sāmihā etc., by Dr. Alsdorf (Bulletin of the SOS, Vol. X, part i, p. 22); and the collection of various passages mentioning 'gommaṭa' made by me (IHQ, XVI, p. 819 ff.; BV. II, ii) do indicate that a good deal of fruitful work can be done in this direction. The Jaina texts, especially from Gujarāta, show interesting solecisms (some of whose counterparts are quite normal in Prākrits) which, if studied in the light of the various readings given in our national edition of the Mahābhārata issued by the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, would give us some idea of the popular aspects of Sanskrit in the medieval ages.

The linguistic material afforded by Prākrits is rich and varied; it belongs to different localities in India; and the period of time covered so far as written records are concerned, is not less than two thousand years. We are at the beginning of our studies, and many riddles are still to be solved. Naturally if linguists find this a slippery field to sustain their grand theories, let them not hazard mere flights of speculation and shower on us sceptical curses. The Indian conditions being vastly different, some of the theories and modes of evaluation, developed with definite facts of European languages, may not be exactly applicable in the different fields of Indian languages; and even Bloch has warned us to be very careful in giving the evidence its proper value. Immense material is still to be brought to light before subtle and delicate critical tests can be applied. If facts are properly sorted and placed in the hands of an expert linguist, he can make good use of them; we see how Bloch

has used the facts from the Prākrits in his survey of the Indo-Aryan. The field being very vast, departmentalisation for the convenience of study is necessary: only we should not lose sight of the wider generalities. It is already noted above how good work is done in Prākrit metrics and syntax. Some of the dialects can be studied individually and exhaustively. In continuation of what Pischel had sketched, I have lately taken a survey of Paiśāci language and literature (Annals of the BORI, XXI, pp. 1-37). A similar survey of Māgadhī was given to us by W. E. Clark many years back (JAOS, 44). What we want at present is a systematic and patient collection of facts which will enable further critical study. The Prākrit Inscriptions have not been viewed as a whole from the point of view of the language. I learn, however, that a post-graduate student is working on this subject under the guidance of Dr. S. M. Katre in the Deccan College Post-graduate Research Institute, Poona. The classified linguistic data would help us to assess the value of our Prākrit grammars and other traditions about Prākrits.

The Prākritist, as a linguist, has another duty to fulfil. With the spread of education and standardisation of Modern Indian languages, a lot of valuable material in the popular speech is bound to disappear after a time. Many words, forms and turns of expression, which have a historical justification, are looked down upon as vulgar, because they do not conform to the current standard of the so-called correct language of the educated classes. For a student of the Middle Indo-Aryan, such linguistic material among the masses, in many a case, represents significant stages in the evolution of the Prākrit languages into the Modern languages. This raw meterial is fast disappearing, and we cannot afford to wait any longer. It is not enough if we merely repeat the facts collected by Grierson and others. Parroting the theories of our Western masters may have its value, but some day we have to rise above that: we must assiduously collect the linguistic facts from the tribal areas and the uneducated village populace. If these facts are approached from the side of Prākrits, their value is likely to be appreciated better; and in the long run rich material would accumulate. Those who have some linguistic training can certainly reach positive results by noting and systematically classifying these facts.

India is a veritable museum of languages and dialects both written and spoken, dead and living. Taking into account the data supplied by Sanskrit amd Prākrit grammarians, keeping in view the scientific methods evolved by the advanced linguists of the West, duly cellecting the material from the Prākrit and Apabhraṁśa texts and putting together the data available from the uneducated masses, who are sure to inherit genuine and old material that is lost in the case of educated classes on account of new influences and grammatical standardisation, we find that the growth of Indian languages has not only a strong foundation but also a consistent growth which will interest many a scholar. The educated people, on account of their limited standards, may shun the language of masses as incorrect; but for a linguist there is nothing like correct or incorrect: every authentic fact of the language has a legitimate place in his historical and comparative study of the growth of language.

There is a common belief that the study of Prākrits has little to do with those parts of South India, where Dravidian languages are spoken and consequently the study of Prākrits has no bearing on Dravidian philology. We know that some of the Āndhra dynasties have left their inscriptions in Prākrit, and there are traditions which associate literature written in Prākrit with the kings of that dynasty. Hāla or Śātavāhana is the most notable example. Coming to the Kannaḍa area and the adjoining territory, we have a series of writers like Koṇḍakunda, Vaṭṭakera, Kumāra, Vīrasena, Jinasena, Nemicandra and others whose Prākrit works have come down to us. Dharmapāla is associated with the South, and Kāñcī is an important place in Pāli tradition. The Tamil works like Kuṇḍalakeśi and Maṇimekhalai, though the first is lost now, we owe to Buddhist authors. The Prākrit grammarians like Trivikrama, Siṁharāja, Laksmīdhara and perhaps the author of Prākṛtamañjarī belonged to the South. My researches on the Kaṁsavaho of Rāma Pāṇivāda (Hindī Grantharatnākara Kāryālaya, Bombay 1940) made it clear to me that we had altogether neglected an important tract of Prākrit literature cultivated in the extreme South. Kṛṣṇalīlāśuka wrote his Siricimdhakavvaṁ in the 13th century A. D. to illustrate the rules of the Prākṛta-prakāśa (BV. III, i); and as late as 18th century A. D. Prākrit works were written in the Kerala country. Besides the

Śauricarita of Śrīkaṇṭha, lately there has come to light an incomplete Ms. of Gaurīcarita. We owe to Rāma Pāṇivāda a commentary on Vararuci's Sūtras and two Prākrit poems, Kaṁsavaho and Usāṇiruddhaṁ. The text of the second also is edited by me from a single Ms. (JUB. September 1941). Rudradāsa has written a Saṭṭaka, Candralekhā, to celebrate the marriage of Eralapatti Rāja, the Zamorin of Calicut. These are not stray efforts, nor are they confined to mere cultivation of some sacred literature. They show a continuity of Prākrit study.

It is not unlikely that Prākrits may have influenced Dravidian languages too. So far as Kannaḍa is concerned, we have undisputable circumstantial evidence and solid facts, which go to show that a novel mould in Kannaḍa style was cast under the inspiration of Prākrits. It is quite likely that some of the Jaina writers, who wrote in Kannaḍa were already acquainted with Prākrits, especially Jaina Śaurasenī as we call it to-day. We know, how Āṇḍayya openly rebelled against the excessive use of Sanskrit words in Kannaḍa poems, and he wrote his Kabbigara kāva in what he calls pure Kannaḍa. How the contemporary critics received it, we are not in a position to judge ; but the subsequent Kannaḍa works do show a moderation in the use of Sanskrit words. But to-day if we look dispassionately at the performance of Āṇḍayya (c. 1235 A. D.), we find that many of his words are converts from Sanskrit according to to the rules of Prākrit grammar, of course without violating the phonetic trend of the Kannaḍa language. His words like ' sakkada ' for 'saṁskṛta', 'kabba' for 'kāvya' etc , are quite familiar to Prākritists. Again if we carefully study the Apabhraṁśa-prakaraṇa from the Śabda-maṇi-darpaṇa of Keśirāja, various rules clearly betray the influence of Prākrit grammar. I am not aware of any detailed study in this direction. Many of the so-called Deśī words, current in Prākrits, can be traced to Dravidian group of languages. If Prākrit influence is detected in the growth of Kannaḍa vocabulary, we should try to see whether any such influence is seen in Telugu and Tamil. I take the liberty of requesting my colleagues, working on Dravidian philology, to take into account the relation of Prākrits with Dravidian languages in course of their studies.

THE JĪVĀNUŚASANA VṚTTI OF DEVASŪRI AND ITS DATE A. D. 1105

By

K. Madhava Krishna Sarma, M. O. L., Curator, Anup Sanskrit Library and Director of Oriental Publications, Bikaner.

There is a Ms of this work in the Anup Sanskrit Library, Bikaner. It consists of a Prākrit text and a Sanskrit commentary by Devasūri. A chronogram at the end mentions the date Saṁvat 1162. The work was written in Aṇhilla Pāṭakanagara in Ghūrjaradeśa when Jayasiṁha, son of Karṇadeva, was ruling. The Ms. was copied in Saṁvat 1561 (A D. 1504) by Śivadāsa. The extent of the work is at the end stated to be 333 Gāthās. It consists of the following 39 sections :

(1) Bimba pratiṣṭhāvarṇanalakṣaṇa.
(2) Pārśvasthavandanādipratipādaka.
(3) Pākṣika vicāraṇalakṣaṇa.
(4) Vandanatrayavicāralakṣaṇa
(5) Āryikānandivaktavyatārtha.
(6) Dānaniśedhavicāravarṇana
(7) Māghamālāpratipādaka.
(8) Caturviṁśatipaṭṭakādivivaraṇa.
(9) Not marked.
(10) Siddhabalivicāralakṣaṇa
(11) Pārśvasthādisamīpaśravaṇādivicāravarṇana.
(12) Vidhicaityakaraṇavarṇana
(13) Not marked.
(14) Saṇghavicāravarṇana.
(15) Pārśvgthādyanuvarṇana.
(16) Jñānavadavajñāvicārārtha.
(17—18) Gacchaguruvacanatyāgavicāra
(19) Brahmaśāntyādipūjanavicāra.
(20) Śrāvakasiddhāntagāthāpāṭhanavicāra
(21) Skandhaca (?)ṭitavihāravarṇana.
(22) Māsakalpavicāra.
(23) Sūrimaladharaṇavicāra.
(24) Kevalastrīvyākhyānakathana.
(25) Śrāvakapārśvasthavandana.

(26) Śrāvakasevāvicāra.
(27) Āryikādharmakathanavivaraṇa.
(28) Jinadṛvyotpādavarṇana.
(29) Aśuddhagrahaṇakathana.
(30) Pārśvasthādisamīpakṛtataponindāvicāra.
(31) Pārśvasthādikṛtajinabhavanapūjāvicāra.
(32) Mithyādṛṣtivarṇana.
(33) Voṣāpramāṇa.
(34) Asaṁyataśabdavicāra.
(35) Prāṇivadhadānavarṇana.
(36) Cāritrasattāvicāraṇa.
(37) Ācaraṇavarṇana.
(38) Guṇastutivicāra.
(39) Prakaraṇasāra.

The MS. is in a fairly good condition. It consists of 50 folios.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VIII. 1942.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4*s.* 8*d.* Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS

		Pages.
1.	A Contemporary Manuscript of the Hastasanjīvana Bhāṣya of Meghavijayagaṇi, belonging to Raghunātha Mahādeva Ghāte—between A. D. 1680 and 1700—By P. K. Gode, M.A.	25—29
2.	A Fragmentary Sculpture of Neminātha in the Lucknow Museum—By Dr. Vasudeva S. Agrawala M.A., Ph.D., Curator, Lucknow Museum	45—49
3.	Does Udayana refer to Joindu ?—By Dr. V. Raghvan, Madras.	8
4.	Magic and Miracle in Jaina Literature—By Kalipada Mitra, M A., B. L.	9—24
5.	Magic and Miracle in Jaina Literature—By Kalipada Mitra, M. A., B. L.	57—68
6.	Nārāyanas, Pratinārāyanas and Balabhadras—By Dr. Harisatya Bhattacharya, M.A., B.L., LL. D. ...	36—40
7.	Nārāyanas, Pratinārāyanas and Balabhadras—By Dr. Harisatya Bhattacharya, M.A., B L., LL.D. ...	50—56
8.	Prākrit Studies : Their Latest Progress & Future—By Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.	69—86
9.	Reviews—By Rajenda Prasad	41—44
10.	Some of the Latest Institutions and Journals and their work in the field of Prākrit Studies, etc.—By Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.	1—7
11.	The Jaina Chronology—By Kamata Prasad Jain, LL. D., M. R. A. S.	30—35
12.	The Jīvānuśasana vṛtti of Devasūri and its date A.D. 1105.—By K. Madhava Krishna Sarma, M.O.L., Curator, Anup Sanskrit Library and Director of Oriental Publications, Bikaner.	87—88

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in June and December.

2. The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s.* 8*d.* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A , D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भवन के प्रकाशित ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र] संस्कृत और भाषा-टीका-सहित—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री एवं पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित—सं० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य .. .. १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ॥)

(४) प्रशस्ति-संग्रह [प्रथम भाग]—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १॥)

(५) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ॥)

(६) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ॥)

(७) Jaina Literature In Tamil *by* Prof. A. Chakravarti, M A., I. E. S., ... Price Rs. 2

(८) भवन के संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी ग्रन्थों की सूची ... ... १)

(९) भवन की अंग्रेजी पुस्तकों की सूची ... ... ॥)

(१०) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग ... ...[अप्राप्य]

(११) ,, २य भाग ... ... ४)

(१२) ,, ३य भाग ... ... ४)

(१३) ,, ४र्थ भाग ... ... ४)

(१४) ,, ५म भाग ... ... ४)

(१५) ,, ६ष्ठ भाग ... ... ४)

(१६) ,, ७म भाग ... ... ३)

(१७) ,, ८म भाग ... ... ३)

(१८) ,, ९म भाग ... ... ३)

प्राप्ति-स्थान :

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.